भक्ति-अङ्कका परिशिष्ट

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीता-राम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन २०१४, फरवरी १९५८

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≋) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीदशरथ-नन्दन

क्रीडावेशमें आनन्दकन्द

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१४, फरवरी १९५८ | संख्या २ पूर्ण संख्या ३७५

आँगन खेलत आनँदकंद

आँगन खेलत आनँदकंद । रघुकुल कुमुद सुखद चारु चंद ॥
सानुज भरत लखन सँग सोहैं । सिसु भूषन भूषित मन मोहैं ॥
तन दुति मोर चंद जिमि झलकै । मनहु उमगि अँग अँग छबि छलकै ॥
कटि किंकिनि पग पैंजनि बाजैं । पंकज पानि पहुँचियाँ राजैं ॥
कठुला कंठ बघनहा नीके । नयन सरोज मयन सरसी के ॥
लटकन लसत ललाट लटूरीं । दमकति द्वै द्वै दँतुरियाँ रूरीं ॥
मुनि मन हरत मंजु मसि बुंदा । ललित बदन बलि बाल मुकुंदा ॥
कुलँही चित्र बिचित्र झँगूलीं । निरखत मातु मुदित मन फूलीं ॥
गहि मनि खंभ डिंभ डगि डोलत । कलबल बचन तोतरे बोलत ॥
किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि । देत परम सुख पितु अरु अंबनि ॥
सुमिरत सुषमा हिय हुलसी है । गावत प्रेम पुलकि तुलसी है ॥

(गीतावली १ । ३१)

याद रक्खो—भक्त वह है, जो भगवान्‌का हो गया है, जिसका सब कुछ भगवान्‌के समर्पण हो गया है। ऐसा भक्त ही वस्तुतः मुक्त पुरुष है; क्योंकि जबतक अविद्या विद्यमान रहती है, तबतक मनुष्य भगवान्‌का न होकर संसारका-संसारके भोगोंका ही गुलाम रहता है; वह मुक्त नहीं है और जो ऐसा है, वह सब कुछ भगवान्‌के समर्पण करके भगवान्‌का हो नहीं सकता। इसलिये जो भक्त होता है, वह अविद्यासे—अज्ञानसे मुक्त भगवान्‌की महिमाके तत्त्वको जाननेवाला होता है।

याद रक्खो—भगवान्‌की महिमाके तत्त्वको यथार्थरूपमें जाननेके लिये भी भक्तिकी आवश्यकता होती है; क्योंकि अतिसमीपकी अन्तरङ्गताके विना किसीके यथार्थ तत्त्वको, उसके आभ्यन्तरिक मर्मको कोई जान नहीं सकता। अतएव भगवान्‌के यथार्थ स्वरूप-तत्त्वको, उनके मर्मको वही जानता है, जो उनका अन्तरङ्ग प्रेमी होता है। इस अन्तरङ्ग प्रेमको ही 'परा भक्ति' कहते हैं और इस अन्तरङ्ग प्रेममें ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये इसीको 'ज्ञानकी परा निष्ठा' कहते हैं।

याद रक्खो—अन्तरङ्ग प्रेमके या परा भक्तिके लिये भी पहले ज्ञानकी आवश्यकता होती है; क्योंकि बिना कुछ जाने कैसे कोई किसीके साथ प्रेम करेगा। अतएव जाननेसे—ज्ञानसे परा भक्ति प्राप्त होती है और परा भक्तिसे भगवान्‌के यथार्थ स्वरूप या मर्मका ज्ञान होता है तथा यह होते ही भगवान्‌की लीलामें प्रवेश हो जाता है।

याद रक्खो—इसलिये ज्ञान भक्तिका सहायक है और भक्ति ज्ञानकी सहायिका है। पूर्ण ज्ञान और परा भक्ति दोनोंमें ही भगवान्‌के यथार्थ ज्ञानसे अविद्याका सर्वथा नाश हो जाता है और जिसकी अविद्याका सर्वथा नाश हो गया, वही मुक्त है। अतएव भक्त मुक्त होता है।

याद रक्खो—इस प्रकार भक्त अविद्या-मुक्त होनेपर भी नित्य भगवत्सेवापरायण रहता है। वह अज्ञानसे मुक्त है—संसारके बन्धनसे मुक्त है, पर प्रेमास्पद भगवान्‌की सेवासे मुक्त नहीं है; और न वह ऐसी मुक्ति कभी चाहता ही है, जो उसे भगवत्-सेवासे छुड़ा दे। बल्कि देनेपर भी वह सेवासे वञ्चित करनेवाली उस मुक्तिको स्वीकार नहीं करता।

याद रक्खो—जब भक्त मुक्तिको भी नहीं चाहता, तब इहलोक और परलोकके भोगोंकी तो बात ही क्या है। वह न संसारके किसी दुःखसे घबराता है न किसी सुखको ही चाहता है। प्रख्यात पुरुषार्थचतुष्टय उसकी दृष्टिमें नगण्य—तृणवत् होता है, वह उसकी ओर झाँकता ही नहीं; हाँ, यह चतुर्वर्ग—पुरुषार्थचतुष्टय उसकी सेवाके लिये अवश्य लालायित रहता है।

याद रक्खो—भक्त मुक्तिकी इच्छा इसीलिये नहीं करता कि वह भगवान्‌का हो गया है, उसकी कोई स्वतन्त्र इच्छा रही ही नहीं; (२) इसलिये भी नहीं करता कि मुक्ति उसे भगवत्-सेवासे वञ्चित करनेवाली है और (३) इसलिये भी नहीं करता कि उसमें स्वार्थ भरा है, उसमें अपनेको बन्धनसे—दुःखोंसे मुक्त करनेकी इच्छा है, न कि भगवत्सेवाकी। और अपने सुखकी इच्छा ही काम है—स्वार्थ है।

याद रक्खो—ऐसी भक्ति ही परम और चरम पुरुषार्थ है। ऐसा भक्त भगवान्‌की लीलामें प्रवेश प्राप्त करके भगवान्‌के मनसे मनस्वी, भगवान्‌के प्राणोंसे अनुप्राणित और भगवान्‌की प्रेरणासे प्रेरित होता है। वह भगवन्मय ही हो जाता है। उसकी इच्छा भगवान्‌की इच्छा होती है, उसके कर्म भगवान्‌के कर्म होते हैं और उसकी वाणी भगवान्‌की वाणी होती है।

याद रक्खो—वह जगत्‌में सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता, सबमें रहता हुआ भी सबमें नहीं रहता, सबसे बोलता हुआ भी किसीसे नहीं बोलता; क्योंकि उसके द्वारा भगवान् ही अपना कार्य करते हैं, वह नित्य भगवान्‌में ही निवास करता है और सदा-सर्वदा भगवान्‌से ही बोलता है।

'शिव'

वैष्णव-सदाचार

न किंचित् कस्यचित् सिद्ध्येत् सदाचारं विना यतः ।
तस्मादवश्यं सर्वत्र सदाचारो ह्यपेक्ष्यते ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्द्धनः ।
आचाराद् वर्द्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
(भविष्यपुराण)

'सदाचारके विना किसीका कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, अतएव सब कार्योंमें सदाचार अवश्य अपेक्षित होता है। सदाचार ऐश्वर्यका जनक है, सदाचार कीर्तिको बढ़ाता है, सदाचारसे आयु बढ़ती है तथा सदाचार दरिद्रता, अपमृत्यु आदि अमङ्गलोंका नाश करता है ।'

गुरु-लक्षण

(गुरु कौन हो सकता है ?)

महाभागवतश्रेष्ठो ब्राह्मणो वै गुरुर्नृणाम् ।
सर्वेषामेव लोकानामसौ पूज्यो यथा हरिः ॥
परिचर्यायशोलाभलिप्सुः शिष्याद् गुरुर्न हि ।
कृपासिन्धुः सुसम्पूर्णः सर्वसत्त्वोपकारकः ॥
निःस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः ।
सर्वसंशयसंछेत्तानलसो गुरुराहृतः ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

'जो परम भागवत है, अर्थात् पूर्णतः वैष्णवधर्ममें रत है, ऐसा ब्राह्मण मनुष्योंका गुरु है । वह श्रीहरिके समान ही सभी लोकोंद्वारा पूज्य है । जो शिष्यसे सेवा तथा धनादि प्राप्त करना चाहता है, वह गुरु होने योग्य नहीं है । परंतु जो कृपा-सिन्धु एवं सब प्रकारसे परिपूर्ण है, सब प्राणियोंका उपकारक है, निःस्पृह है, सब प्रकारसे सिद्ध है, सर्वविद्याविशारद है, सब प्रकारके संशयोंका छेत्ता है, आलस्यरहित है, वही गुरु कहलाता है ।

परंतु श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केनो नय ।
येई कृष्णतत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय ॥

'ब्राह्मण हो या शूद्र, संन्यासी हो या गृहस्थ ही क्यों न हो—जिसे श्रीकृष्ण-तत्त्वका ज्ञान है, वही गुरु होनेयोग्य है ।'

शिष्य-लक्षण

(शिष्य कौन हो सकता है ?)

शिष्यः शुद्धान्वयः श्रीमान् विनीतः प्रियदर्शनः ।
सत्यवाक् पुण्यचरितोऽदभ्रधीर्दम्भवर्जितः ॥
कामक्रोधपरित्यागी भक्तश्च गुरुपादयोः ।
देवताप्रवणः कायमनोवाग्भिर्दिवानिशम् ॥
नीरुजो निर्जिताशेषपातकः श्रद्धयान्वितः ।
द्विजदेवपितॄणां च नित्यमर्चापरायणः ॥
युवा विनियताशेषकरणः करुणालयः ।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तः शिष्यो दीक्षाधिकारवान् ॥
(मन्त्रमुक्तावली)

'जो शिष्य शुद्ध वंशमें उत्पन्न, श्रीमान् (तेजस्वी), विनीत, सौम्य, सत्यवादी, सदाचारी बुद्धिमान्, दम्भहीन, काम-क्रोधसे रहित, गुरुके चरणोंमें भक्तिमान्, दिन-रात काय, मन और वाणीसे देवाराधनमें रत, नीरोग, अशेष पातकोंको जीतनेवाला, श्रद्धालु, नित्य देव-द्विज और पितरोंकी पूजामें रत, युवा, जितेन्द्रिय तथा करुणामय है—उपर्युक्त शुभ लक्षणोंसे युक्त शिष्य दीक्षा प्राप्त करनेका अधिकारी है ।'

विष्णु-पूजा-माहात्म्य

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि ।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ॥
(विष्णुरहस्य)

'इस पृथ्वीपर जो लोग श्रीविष्णु भगवान्की अर्चना करते हैं, वे (मरनेपर) विष्णुके परमानन्दमय नित्यधाम श्रीवैकुण्ठको गमन करते हैं ।'

जलेनापि जगन्नाथः पूजितः क्लेशहा हरिः ।
परितोषं व्रजत्याशु तृषार्त्तः सुजलैर्यथा ॥
(नारदपुराण)

'प्यासा आदमी जैसे मधुर सुशीतल जल पाकर परितृप्त होता है, उसी प्रकार दुःख हरनेवाले जगन्नाथ श्रीहरि केवल जलद्वारा पूजित होनेपर भी अविलम्ब संतुष्ट हो जाते हैं ।'

विशिष्टः सर्वधर्माच्च धर्मो विष्णवर्चनं नृणाम् ।
सर्वयज्ञतपोहोमतीर्थस्नानैश्च यत् फलम् ।
तत् फलं कोटि गुणितं विष्णुं सम्पूज्य चाप्नुयात् ॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन नारायणमिहार्चयेत् ॥
(स्कन्दपुराण)

'मनुष्यके लिये अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा श्रीविष्णु-भगवान्का अर्चन करना श्रेयस्कर है । सब प्रकारके यज्ञ, तप, होम तथा तीर्थ-स्नानसे जो पुण्यफल प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा कोटिगुना पुण्यफल श्रीविष्णुकी पूजा करके मनुष्य पा

सकते हैं। अतएव इस लोकमें सम्पूर्ण प्रयत्नसे श्रीनारायणकी पूजा करे।'

एवं सर्वासु वेलासु अवेलासु च केशवम्।
सम्पूजयन् नरो भक्त्या सर्वान् कामानवाप्नुयात् ॥
(स्कन्दपुराण)

'इस प्रकार प्रातः, मध्याह्न, सायं तथा इसके अतिरिक्त अन्य समय या असमयमें भी कभी मनुष्य भक्तिपूर्वक केशवकी श्रद्धायुक्त पूजा करके समस्त काम्यवस्तुओंको प्राप्त कर सकता है।'

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥
(गौतमीय तन्त्र)

'केवल तुलसीके पत्ते और एक चुल्लू जल अर्पण करनेपर भी भक्तवत्सल श्रीभगवान् भक्तोंके हाथ अपने-आपको बेंच देते हैं अर्थात् एकबारगी भक्तोंके वशीभूत हो जाते हैं।'

असारे खलु संसारे सारमेतन्निरूपितम्।
समस्तलोकनाथस्य श्रद्धयाऽऽराधनं हरेः ॥
(स्कन्दपुराण)

'इस असार संसारमें निश्चयपूर्वक समस्त लोकोंके नाथ श्रीहरिकी श्रद्धापूर्वक आराधना ही सार वस्तु निरूपित हुई है।'

नास्ति श्रेयोत्तमं नृणां विष्णोराराधनात् परम्।
युगेऽस्मिंस्तामसे तस्मात् सततं हरिमर्चयेत् ॥
(स्कन्दपुराण)

'इस तमःप्रधान कलियुगमें मनुष्यके लिये विष्णुकी आराधनासे बढ़कर अत्यन्त मङ्गलजनक और कुछ भी नहीं है। इसलिये सदा-सर्वदा मनुष्य श्रीहरिकी ही अर्चना (पूजा) करता रहे।'

शौच-विधि

विष्णुपुराणका वचन है कि अपनी और वृक्षकी छायामें तथा गौ, सूर्य, अग्नि, वायु, गुरु और ब्राह्मणके सामने बुद्धिमान् आदमी कभी मल-मूत्र-त्याग न करे। जोते हुए खेतमें, खड़ी फसलमें, गोचरभूमिमें, जन-समाजमें, रास्तेमें, नदी आदि तीर्थमें, जलमें, जलकी धारामें और श्मशानमें मल-मूत्र-त्याग न करे। दिनमें उत्तर दिशामें मुख करके और रात्रिमें दक्षिणमुख होकर, आपत्काल न हो तो, तृणसे भूमि आच्छादन करके और सिरपर वस्त्र लपेटकर मल-मूत्र-त्याग करे। वहाँ बहुत देरतक न बैठा रहे और न मुँहसे बोले। काशीखण्डमें आता है कि गोचरभूमिमें, वल्मीक (बाँबी)में, भस्ममें, जहाँ जीव हों ऐसे गड्ढेमें, खड़ा-खड़ा तथा चलते-चलते मल-मूत्र-त्याग न करे। परंतु यदि भय हो या प्राणनाशकी आशङ्का हो तो रातमें या दिनमें छाया या अन्धकारमें सुविधानुसार मल-त्याग कर सकता है। इसके सिवा कूर्मपुराणमें लिखा है—

निधाय दक्षिणे कर्णे ब्रह्मसूत्रमुदङ्मुखः।
प्रावृत्य तु शिरः कुर्याद् विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥

'दाहिने कानपर यज्ञोपवीत स्थापन करके और सिरपर वस्त्र लपेटकर मल-मूत्र-त्याग करना चाहिये।'

विष्णुपुराणका कथन है कि शौच-साधन (सफाई)के लिये मृत्तिका मूत्रेन्द्रियमें एक बार, गुह्यद्वारमें तीन बार, वाम हस्तमें दस बार और दोनों हाथोंमें सात बार मले। यह मृत्तिका वल्मीककी, चूहोंके द्वारा कुरेदी, जलके भीतरसे निकाली हुई, शौचसे बची हुई तथा घरके लीपनकी नहीं होनी चाहिये और जिसमें कीड़े हों या जो हलसे निकली हो, उसे भी व्यवहारमें नहीं लेना चाहिये। यमस्मृतिमें लिखा है—

तिस्रस्तु पादयोर्देयाः शुद्धिकामेन नित्यशः।

'शुद्धिके लिये मनुष्यको दोनों पैर नित्य तीन-तीन बार मृत्तिकासे मलने चाहिये।'

दन्तधावन

कात्यायन मुनि कहते हैं कि शय्यासे उठकर, आँखें धोकर, शौचादि क्रियासे शुद्ध होकर मन्त्र-जप करते हुए दन्तधावन करे। कूर्मपुराणमें आया है कि मध्यमा अङ्गुलि-जैसा मोटा बारह अङ्गुल लंबा छालयुक्त दातन होना चाहिये। परंतु दातनको अग्रभागसे नहीं पकड़ना चाहिये, उसे मूलकी ओरसे पकड़कर अग्रभागसे दातन करना चाहिये। उपवास तथा श्राद्धके दिन दातन नहीं करना चाहिये, ऐसा शास्त्रोंका आदेश है। वृद्धवसिष्ठ स्मृतिका कहना है कि प्रतिपदा, अमावस्या, षष्ठी, नवमी, एकादशी और रविवारको दातन करनेसे दोष लगता है। ऐसे समयके लिये पैठीनसि स्मृतिका मत है—

अलाभे वा निषेधे वा काष्ठानां दन्तधावनम्।
पर्णादिना विशुद्धेन जिह्वोल्लेखः सदैव हि ॥

'काठकी दातन प्राप्त न हो, अथवा उसका निषेध हो, तो विशुद्ध पत्तों आदिके द्वारा दात साफ कर लेने चाहिये तथा जिह्वाशुद्धि सदा ही करनी चाहिये।' हाँ, एकादशी और अमावस्याको दन्तधावन बिल्कुल नहीं करना चाहिये। वाराहपुराणमें लिखा है—

दन्तकाष्ठमखादित्वा यस्तु मामुपसर्पति ।
सर्वकालकृतं कर्म तेन चैकेन नश्यति ॥

'बिना दातन किये जो पूजा-अर्चनाके लिये मेरी (भगवान्‌की) सेवामें पहुँचता है, उसका सब दिनका किया हुआ कर्म इसी एक दोषसे नष्ट हो जाता है ।'

दातनके लिये काँटेदार वृक्ष (जैसे बबूल) पवित्र माने जाते हैं । दूधवाले वृक्ष—जैसे महुआ, गूलर, बरगद आदिकी दातन आयुवृद्धि करती है तथा कटु, तिक्त और कषाय रसवाले, नीम आदि वृक्षोंके दातन बल, आरोग्य और सुख प्रदान करते हैं ।

स्नान

अत्रिस्मृतिका कहना है कि स्नान करनेसे चित्त प्रफुल्लित होता है, देवतालोग सम्मुख अवस्थित होते हैं और सौभाग्य, श्री, सुख, पुष्टि, पुण्य, विद्या, यश और धृतिकी प्राप्ति होती है । विशेषतः प्रातःस्नानसे सारे महापातक, अमङ्गल, पाप, दुश्चिन्ता और शोक-दुःखादि दूर होते हैं । अरुणोदयका स्नान सबसे उत्तम होता है । स्कन्दपुराणमें लिखा है—

उदयात् प्राक् चतस्रस्तु घटिका अरुणोदयः ।
तत्र स्नानं प्रशस्तं स्यात् स वै पुण्यतमः स्मृतः ॥

"सूर्योदयसे चार घड़ी (१$\frac{1}{2}$ घंटे) पूर्वका समय 'अरुणोदय' कहलाता है । उस समयका स्नान प्रशस्य होता है और अत्यन्त पुण्यप्रद कहा गया है ।" अरुणोदयके बाद सूर्योदय होनेपर चार घड़ी (१$\frac{1}{2}$ घंटे) दिन चढ़ेतक प्रातःकाल माना जाता है । श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

ततोऽरुणोदयस्यान्ते स्नानार्थं निस्सरेद् बहिः ।
कीर्तयन् कृष्णनामानि तीर्थं गच्छेदनन्तरम् ॥

'भगवान्‌की मङ्गल आरती होनेके बाद अरुणोदयकाल समाप्त होनेपर स्नानके लिये बाहर निकले और श्रीभगवन्नाम-का कीर्तन करते हुए पवित्र जलाशयके पास जाय ।'

स्नान सात प्रकारके होते हैं—मान्त्र, पार्थिव, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण और मानस ।

शन्न आपस्तु द्रुपदा आपो हिष्ठाघमर्षणम् ।

—इस मन्त्रका उच्चारण करके मस्तकपर जल छिड़कने-का नाम 'मान्त्र स्नान' है । गङ्गा आदिकी मृत्तिकाका स्पर्श करके उसके द्वारा तिलक करनेपर 'पार्थिव स्नान' होता है । संस्कृत भस्मका अङ्गमें लेपन करनेपर 'आग्नेय स्नान' होता है । गोधूलि अर्थात् गौके खुरसे जो धूलि उड़ती है, उसके शरीर-में लगानेपर 'वायव्य स्नान' होता है । जब वर्षा होती रहे, उस समय धूप भी हो तो उसमें स्नान करनेसे 'दिव्य स्नान' होता है । नदी आदिमें स्नानका नाम 'वारुण स्नान' है । मन-में विष्णु-स्मरण-ध्यानादिके द्वारा देह पवित्र करनेका नाम 'मानस स्नान' है । विष्णुपुराणमें लिखा है कि नद, नदी, बावड़ी, तालाब तथा झरनेके जलमें स्नान करे । अथवा कलश आदिके द्वारा कुएँसे जल निकालकर स्नान करे । दक्षस्मृतिमें लिखा है—

प्रातर्मध्याह्नयोः स्नानं वानप्रस्थगृहस्थयोः ।
यतेस्त्रिसवनं स्नानं सकृत्तु ब्रह्मचारिणः ॥

महर्षि दक्ष कहते हैं कि 'वानप्रस्थ और गृहस्थको प्रातः और मध्याह्नमें, संन्यासीको त्रिकाल तथा ब्रह्मचारीको एक बार प्रातःकालमें स्नान करना चाहिये ।'

कूर्मपुराणमें लिखा है कि प्रातःस्नानसे पापी मनुष्य भी शुद्ध हो जाते हैं, इसलिये सब प्रकारका यत्न करके प्रातःस्नान अवश्य ही करना चाहिये ।

गर्गमुनिका वचन है—

कुर्यान्नैमित्तिकं स्नानं शीताद्भिः काम्यमेव च ।
नित्यं यादृच्छिकं चैव यथारुचि समाचरेत् ॥

" 'नैमित्तिक' और 'काम्य-स्नान' तो शीतल जलसे ही करना चाहिये । परंतु नित्य स्नान अथवा स्वेच्छासे किया जानेवाला स्नान इच्छानुसार शीतल या उष्ण जलसे किया जा सकता है ।"

यमस्मृति तथा वृद्धमनुका वचन है कि पुत्र-जन्मके समय, संक्रान्तिमें, चन्द्र और सूर्यके ग्रहणकालमें तथा अस्पृश्यका स्पर्श करके उष्ण जलसे स्नान न करे । पूर्णिमा और अमावस्याके दिन तो उष्णजलसे स्नान करनेपर बड़ा दोष लगता है—

पौर्णमास्यां तथा दर्शे यः स्नायादुष्णवारिणा ।
स गोहत्याकृतं पापं प्राप्नोतीह न संशयः ॥

(वृद्धमनु)

शास्त्रमें लिखा है कि व्रत, श्राद्धमें तथा उपवासके दिन तेल लगानेसे बड़ा दोष लगता है ।

वस्त्र

गौतम मुनि कहते हैं कि एक वस्त्र पहनकर आहार और देवार्चन न करे । 'त्रैलोक्यसम्मोहन पञ्चरात्र'में लिखा

है कि सर्वदा शुक्ल वस्त्र धारण करे, रंगीन वस्त्र न पहने। श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है कि देवकार्यमें सिला हुआ वस्त्र, फटा और जला वस्त्र तथा दूसरेका पहना वस्त्र धारण नहीं करना चाहिये। अधौत वस्त्र काक-विष्ठाके तुल्य होता है और धोबीके द्वारा धुला वस्त्र अपवित्र होता है। कीड़ेके द्वारा स्पृष्ट तथा जिस वस्त्रको पहनकर मल-मूत्र-त्याग अथवा स्त्रीप्रसङ्ग किया गया हो, वह भी अपवित्र होता है। परंतु—

आविकं तु सदा वस्त्रं पवित्रं राजसत्तम।
पितृदेवमनुष्याणां क्रियायां च प्रशस्यते॥

'ऊनी वस्त्र सदा पवित्र होता है तथा देव, पितर और मनुष्योंके धर्मानुष्ठानमें प्रशस्य होता है।' शास्त्रवचन है कि ऊनी वस्त्र सदा शुद्ध होता है। कौषेय (कोकटी, अहिंसायुक्त रेशम, केटिया आदि) वस्त्र पहनकर भोजन कर सकते हैं। परंतु उसको धारण करके मल-मूत्र-त्याग करनेपर वह अशुद्ध हो जाता है। सूती वस्त्र कमरसे उतारते ही अशुद्ध हो जाता है और पुनः धोनेपर ही शुद्ध होता है।

ऊर्ध्वपुण्ड्र या तिलक

पद्मपुराणका वचन है—

मत्प्रियार्थं शुभार्थं वा रक्षार्थे चतुरानन।
मत्पूजाहोमकाले च सायं प्रातः समाहितः॥
मद्भक्तो धारयेन्नित्यमूर्ध्वपुण्ड्रं भयापहम्॥
यज्ञो दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणम्।
व्यर्थं भवति तत्सर्वमूर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम्॥

श्रीविष्णुभगवान् ब्रह्माजीसे कहते हैं कि 'मेरे भक्तको मेरी प्रसन्नताके लिये, शुभ कर्मके लिये अथवा अपने कल्याण और अपनी रक्षाके लिये, मेरी पूजा और होमके समय स्थिरचित्त होकर नित्य ही सायं तथा प्रातः भयापहारक ऊर्ध्वपुण्ड्र अर्थात् तिलक धारण करना चाहिये। तिलक लगाये बिना किये हुए यज्ञ, दान, तप, होम, स्वाध्याय (वेदपाठ या नामजप आदि) एवं पितृ-तर्पण—सब निष्फल हो जाते हैं।' जो दिव्य श्रीविष्णुभगवान्‌के पवित्र क्षेत्र है, वहींसे इसके लिये मृत्तिका ले आये। यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

दूताः शृणुत यद्भालं गोपीचन्दनलाञ्छितम्।
ज्वलदिन्धनवद् सोऽपि त्याज्यो दूरे प्रयत्नतः॥

'हे दूतो! सुनो, जिसके ललाटमें गोपीचन्दनका तिलक लगा हुआ हो, उसको जलते हुए ईन्धनके समान दूरसे ही प्रयत्नपूर्वक त्याग देना।'

गरुडपुराणमें लिखा है—

यो मृत्तिकां द्वारवतीसमुद्भवां
करे समादाय ललाटपट्टके।
करोति नित्यं त्वथ चोर्ध्वपुण्ड्रं
क्रियाफलं कोटिगुणं सदा भवेत्॥
यस्मिन् गृहे तिष्ठति गोपिचन्दनं
भक्त्या ललाटे मनुजो बिभर्ति।
तस्मिन् गृहे तिष्ठति सर्वदा हरिः
श्रद्धान्वितः कंसनिहा विहंगम॥
यो धारयेत् कृष्णपुरीसमुद्भवां
सदा पवित्रां कलिकिल्विषापहाम्।
नित्यं ललाटे हरिमन्त्रसंयुतां
यमं न पश्येद् यदि पापसंवृतः॥

'जो द्वारका-समुत्पन्न मृत्तिकाको हाथमें लेकर उससे प्रतिदिन अपने ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाता है, उसके द्वारा सम्पादित किसी भी क्रियाका फल कोटिगुना हो जाता है। जिसके घरमें गोपीचन्दन रहता है और जो मनुष्य भक्तिपूर्वक अपने ललाटपर उसे धारण करता है, उसके घरमें, हे गरुड! कंसारि श्रीकृष्ण श्रद्धापूर्वक सदा वास करते हैं। जो कलि-कल्मषका नाश करनेवाली द्वारकापुरीकी पवित्र मृत्तिकाको सदा हरिमन्त्रका जप करते हुए ललाटपर धारण करता है, वह पापसे आच्छन्न रहनेपर भी यमराजका द्वार नहीं देखता, अर्थात् उसकी सद्गति होती है।'

तुलसी-माला-धारण

विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है—

संनिवेद्यैव हरये तुलसीकाष्ठसम्भवाम्।
मालां पश्चात् स्वयं धत्ते स वै भागवतोत्तमः॥

'तुलसीकी मालाको सम्यक् रूपसे श्रीहरिको निवेदन करनेके पश्चात् जो स्वयं धारण करता है, वह श्रेष्ठ भागवत है।'

स्कन्दपुराणमें आता है कि तुलसीकी मालाको पञ्चगव्यसे धोकर मूलमन्त्रसे आमन्त्रित करे; फिर आठ बार गायत्री-मन्त्रका जप करे। तत्पश्चात् उसे धूपके धूमका स्पर्श कराये और इस सद्योजात मन्त्रके द्वारा परम भक्तिपूर्वक पूजा करे—

'ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः।'

उसके बाद यह प्रार्थना करे—

तुलसीकाष्ठसम्भूते माले कृष्णजनप्रिये।
यथा त्वं वल्लभा विष्णोर्नित्यं विष्णुजनप्रिया।

तथा मां कुरु देवेशि नित्यं विष्णुजनप्रियम् ॥
दाने 'ला' धातुरुद्दिष्टो लासि मा हरिवल्लभे ।
भक्तेभ्यश्च नमस्तेभ्यस्तेन माला निगद्यसे ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

"हे माले ! तुम तुलसीकाष्ठसे बनी हो । वैष्णवोंको प्रिय हो । मैं तुमको कण्ठमें धारण करता हूँ । तुम मुझको श्रीकृष्णका प्रियपात्र बना दो । 'मा' शब्दका अर्थ है मुझको; 'ला' धातुका अर्थ है दान करना; हे हरिवल्लभे ! तुमने मुझको श्रीकृष्णभक्तोंको दान कर दिया है, इसी कारण तुम 'माला' नामसे अभिहित होती हो ।"

एवं सम्प्रार्थ्य विधिवन्मालां कृष्णगलेऽर्पिताम् ।
धारयेद् वैष्णवो यो वै स गच्छेद् वैष्णवं पदम् ॥

'इस प्रकार सम्यकरूपसे प्रार्थना करके श्रीकृष्णके गलेमें पहनायी हुई मालाको जो वैष्णव अपने गलेमें धारण करता है, वह विष्णुपदको प्राप्त होता है ।'

तुलसीकी माला और विशेषतः आमलकीकी मालाका कदापि त्याग न करे। यह महापातकोंका नाश करनेवाली तथा धर्म-अर्थ-कामको सिद्ध करनेवाली है। पद्मपुराणमें लिखा है—

मलमूत्रपरित्यागे तथा स्नानाशनादिषु ।
कालाकाले सदा धार्या तुलसीकाष्ठमालिका ॥

'मल-मूत्रका परित्याग करते समय, स्नान तथा भोजनके समय—सदा ही कालाकालका विचार छोड़कर तुलसीकी माला धारण करनी चाहिये ।'

पुष्प

नृसिंहपुराणमें आता है कि 'वनमें उत्पन्न, नगरमें उत्पन्न, अपने बगीचेमें खिले हुए पुष्पोंसे, जो बासी न हों, फटे न हों, कीटादिसे वर्जित और पवित्र हों, श्रीहरिकी पूजा करनी चाहिये ।' विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है कि देश और काल-भेदसे जो नाना प्रकारके पुष्प खिलते हैं, उनमें जो सुगन्धित और सुन्दर हों, ऐसे पुष्प श्रीहरिको निवेदन करने चाहिये । परंतु रक्तवर्ण पुष्प, श्मशानमें खिले हुए पुष्प, चैत्यवृक्षोंके पुष्प, अकालमें खिले पुष्प तथा गन्धहीन पुष्प श्रीभगवान्‌को निवेदन नहीं करने चाहिये । चम्पाके सिवा दूसरे किसी भी पुष्पकी कलियोंसे भगवान्‌की पूजा न करे और सूखे पत्र, पुष्प या फल श्रीविष्णुको निवेदन न करे । परंतु—

न पर्युषितदोषोऽस्ति जलजोत्पलचम्पके ।
तुलस्यगस्त्यबकुले बिल्वे गङ्गाजले तथा ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

'कमल, उत्पल, चम्पक, तुलसी, अगस्त्य एवं बकुल (मौलसिरी) के फूल, बिल्वपत्र और गङ्गाजल बासी नहीं होते ।'

क्लिष्टं पर्युषितं च भूमिपतितं छिद्रं च कीटान्वितं
यत्केशोपहतं च गन्धरहितं यच्चोग्रगन्धान्वितम् ।
हस्ते यद्विधृतं प्रणामसमये यद्वामहस्ते कृतं
यच्चान्तर्जलधौतमर्चनविधौ पुष्पं च तद् वर्जयेत् ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

'शुष्क या दबा हुआ, पर्युषित (बासी), भूमिपर पड़ा हुआ, सछिद्र, कीटसे भरा, जिसमें बाल लगे हों, गन्धहीन, उग्र गन्धवाला तथा जिसे हाथमें लेकर प्रणाम किया गया हो, जो बायें हाथमें धारण किया गया हो, जो जलमें डुबो करके धोया गया हो—इस प्रकारके पुष्पोंसे पूजा नहीं करनी चाहिये ।'

विष्णुधर्मोत्तरमें लिखा है कि पुष्प न मिलें तो भगवान्‌को पत्र भी अर्पण कर सकते हैं । पत्रके अभावमें जल अर्पण करना चाहिये । इससे पुण्यकी प्राप्ति होती है । स्नान करनेके पहले ही पूजाके लिये पुष्पचयनका विधान है, पश्चात् नहीं । हारीतस्मृतिमें लिखा है—

स्नानं कृत्वा तु ये केचित् पुष्पं गृह्णन्ति वै द्विजाः ।
देवतास्तन्न गृह्णन्ति भस्मीभवति काष्ठवत् ॥

'स्नान करके जो कोई द्विज पुष्प-चयन करते हैं, उनके द्वारा चयन किये हुए उन पुष्पोंको देवता ग्रहण नहीं करते, वे काष्ठके समान भस्म हो जाते हैं ।'

पूजार्थ तुलसी-दल

गरुडपुराणमें भगवान् कहते हैं कि 'जो तुलसी-दल लेकर प्रतिदिन मेरी पूजा नहीं करता, उसकी मैं सौ वर्षकी भी पूजा ग्रहण नहीं करता ।' बृहन्नारदीयमें भी यही बात कही गयी है ।

तुलसीं विना या क्रियते न पूजा
स्नानं न तद् यत् तुलसीं विना कृतम् ।
भुक्तं न तद् यत् तुलसीं विना कृतं
पीतं न तद् यत् तुलसीं विना कृतम् ॥
(बृहन्नारदीयपुराण)

'तुलसीके विना जो पूजा की जाती है, वह पूजा नहीं है। तुलसीके विना जो भगवान्को स्नान कराया जाता है, वह स्नान नहीं होता। तुलसीके विना भगवान्को भोग लगानेपर वह भोग नहीं लगता; और तुलसीके विना दुग्ध-जलादि पान करानेपर भगवान् पान नहीं करते।' क्योंकि—

पूर्वमुग्रतपः कृत्वा वरं वव्रे मनस्विनी।
तुलसी सर्वपुष्पेभ्यः पत्रेभ्यो वल्लभा ततः॥
(अगस्त्यसंहिता)

'पूर्वकालमें उग्र तप करके मनस्विनी श्रीतुलसीदेवीने भगवान्से वर माँगा था। तभीसे तुलसी भगवान्को सब प्रकारके पुष्प और पत्रोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय है।' जितने प्रकारके दल (पत्र) होते हैं, सबमें एक तुलसी ही भगवान्को प्रिय है। पद्मपुराणमें आया है—

तुलसी कृष्णगौराभा तयाभ्यर्च्य जनार्दनम्।
नरो याति तनुं त्यक्त्वा वैष्णवीं शाश्वतीं गतिम्॥

'तुलसी श्यामवर्णकी हो या गौरवर्णकी, उसके द्वारा जनार्दनकी अभ्यर्चना करनेपर मनुष्य शरीर-त्याग करनेके पश्चात् शाश्वत श्रीविष्णुलोकको प्राप्त होता है।' स्कन्दपुराणका वचन है—

समञ्जरीदलैर्युक्तं तुलसीसम्भवैः क्षितौ।
कुर्वन्ति पूजनं विष्णोस्ते कृतार्थाः कलौ नराः॥
निरस्य मालतीपुष्पं मुक्तापुष्पं सरोरुहम्।
गृह्णाति तुलसीं शुष्कामपि पर्युषितां हरिः॥

'इस भूतलपर मञ्जरीके साथ-साथ तुलसीपत्रोंसे जो मनुष्य विष्णुकी पूजा करते हैं, वे कलिमें कृतार्थ हो जाते हैं। मालती पुष्प, मुक्ता पुष्प और पद्मको छोड़कर श्रीहरि सूखी और बासी तुलसीको भी प्रेमसे ग्रहण करते हैं।' नारदपुराणका वचन है—

वर्ज्यं पर्युषितं पुष्पं वर्ज्यं पर्युषितं जलम्।
न वर्ज्यं तुलसीपत्रं न वर्ज्यं जाह्नवीजलम्॥

'पूजामें बासी पुष्प और बासी जल वर्जित हैं, परंतु बासी होनेपर भी तुलसीदल और गङ्गाजल वर्जित नहीं हैं।' अवश्य ही विना स्नान किये तथा द्वादशी तिथिको तुलसीदलका चयन नहीं करना चाहिये—

अस्नात्वा तुलसीं छित्त्वा यः पूजां कुरुते नरः।
सोऽपराधी भवेत् सत्यं तत् सर्वं निष्फलं भवेत्॥
(वायुपुराण)

'विना स्नान किये जो तुलसी-चयन करके उससे पूजा करता है, निश्चय ही वह अपराधी है और उसकी सारी पूजा निष्फल हो जाती है।'

द्वादश्यां तुलसीपत्रं धात्रीपत्रं च कार्तिके।
लुनाति स नरो गच्छेन्निरयानतिगर्हितान्॥
(पद्मपुराण)

'द्वादशीको तुलसीदल और कार्तिक मासमें आमलकी-पत्र जो मनुष्य तोड़ता है, वह (मरनेके बाद) अतिगर्हित नरकोंमें जाता है।'

तुलसीकी महिमाका अन्त नहीं है। स्कन्दपुराणमें कहा गया है—

हित्वा तीर्थसहस्राणि सर्वानपि शिलोच्चयान्।
तुलसीकानने नित्यं कलौ तिष्ठति केशवः॥

'कलिमें सहस्रों तीर्थों और समस्त पर्वतोंको छोड़कर श्रीभगवान् तुलसी-वनमें निवास करते हैं।' अतएव तुलसी-वृक्ष-रोपण, सिञ्चन आदिके द्वारा तुलसी-सेवा महान् पुण्यफल प्रदान करती है। बृहन्नारदीयपुराणमें लिखा है—

तुलसीकाननं यत्र यत्र पद्मवनानि च।
पुराणपठनं यत्र तत्र संनिहितो हरिः॥
तुलस्यां सिञ्चयेद् यस्तु चुलुकोदकमात्रकम्।
क्षीरोदशायिना सार्द्धं वसेदाचन्द्रतारकम्॥
दुर्लभा तुलसीसेवा दुर्लभा सङ्गतिः सताम्।
दुर्लभा हरिभक्तिश्च संसारार्णवपातिनाम्॥

'जहाँ तुलसी-वन है, जहाँ पद्मवन हैं, जहाँ पुराण-पाठ होता है, वहाँ श्रीभगवान् अवस्थित रहते हैं। जो चुल्लूभर पानीसे भी तुलसीको सींचता है, वह जबतक चन्द्र-तारे आकाशमें हैं, तबतक क्षीरसमुद्रशायी भगवान्के साथ निवास करता है। भवसागरमें पड़े हुए जीवोंके लिये तुलसीकी सेवा दुर्लभ है, सत्पुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ है और श्रीहरिकी भक्ति दुर्लभ है।'

धूप

सगुग्गुल्वगुरूशीरसिताज्यमधुचन्दनैः।
साराङ्गारविनिक्षिप्तैः कल्पयेद् धूपमुत्तमम्॥
(मूलागमतन्त्र)

'गूगल, अगर, खस, शर्करा, घृत, मधु और चन्दनके द्वारा तैयार किये हुए द्रव्यको उत्तम काठके अँगारोंपर

निक्षेप करके श्रीभगवान्‌को उत्तम धूप दान करे।' स्कन्द-पुराणमें लिखा मिलता है—

साज्येन वै गुग्गुलुना सुधूपेन जनार्दनम्।
धूपयित्वा नरो याति पदं तस्य सदाशिवम्॥

'घृतयुक्त गूगलके द्वारा तैयार किये हुए सुन्दर धूपसे जो जनार्दनकी सेवा करता है, वह मनुष्य श्रीविष्णुभगवान्‌के सदा-कल्याणमय लोकको प्राप्त होता है।'

प्रह्लादसंहिताका वचन है—

धूपयेच्च तथा सम्यक् श्रीमद्भगवदालयम्।
धूपशेषं ततो भक्त्या स्वयं सेवेत वैष्णवः॥

'वैष्णव श्रीभगवन्मन्दिरको भलीभाँति धूपित करे, तत्पश्चात् भक्तिपूर्वक स्वयं धूपावशेष ग्रहण करे।'

पञ्चगव्य

गौतमीय तन्त्रका वचन है—

पलमात्रं दुग्धभागो गोमू तावदिष्यते।
घृतं च पलमात्रं स्याद् गोमयं तोलकत्रयम्॥
दधिप्रसृतमात्रं स्यात् पञ्चगव्यमिदं स्मृतम्।
अथवा पञ्चगव्यानां समानो भाग इष्यते॥

'एक पल (छटाँक भर) दूध, एक पल गोमूत्र, एक पल घृत, तीन तोले गोमय और दो पल दही—इन पाँचोंके सम्मिश्रणसे पञ्चगव्य बनता है। अथवा कोई-कोई इन पाँचोंको समान भागमें लेते हैं।'

पञ्चामृत

दुग्धं सशर्करं चैव घृतं दधि तथा मधु।
पञ्चामृतमिदं प्रोक्तं विधेयं सर्वकर्मसु॥

'दूध, शर्करा, घृत, दधि तथा मधु—इन पाँचोंके मिश्रणसे पञ्चामृत बनता है और सब प्रकारकी पूजाओंमें इसका व्यवहार होता है।'

मृदासन और कुशहस्त-निषेध

मृदासनः कुशकरो वैष्णवो न भवेद् द्विजः।
सर्वकर्मफलत्यागी सर्वसंकल्पवर्जितः॥
नो द्विजः कुशहस्तः स्यात् स्नानपूजाजपादिषु।
कदाचिद्दर्भहस्तो न त्यक्तकामस्तु वैष्णवः।
स्नानादिषु च कृत्येषु गोविन्दस्यार्चनादिषु॥

(पद्मपुराण)

'वैष्णव पूजा करते समय केवल भूमिपर न बैठे अर्थात् आसनपर बैठे। हाथमें कदापि कुश लेकर न बैठे। सर्वकर्म-फलत्यागी तथा सब प्रकारके संकल्पसे वर्जित ब्राह्मण स्नान-पूजा-जप आदिमें कभी कुश हाथमें न ले। निष्काम-वैष्णव स्नान आदि कृत्योंमें तथा श्रीगोविन्दकी पूजा-अर्चना आदिमें कदापि कुश हाथमें न ले।'

नैवेद्य-पात्र

नैवेद्यपात्रं वक्ष्यामि केशवस्य महात्मनः।
हैरण्यं राजतं ताम्रं कांस्यं मृण्मयमेव च॥
पालाशं पद्मपत्रं च पात्रं विष्णोरतिप्रियम्॥

(स्कन्दपुराण)

'श्रीभगवान्‌को नैवेद्य-अर्पण कैसे पात्रमें करना चाहिये, यह बतलाते हैं—सोना, चाँदी, ताँबे, काँसी तथा मिट्टी-के पात्र और पलाश एवं कमलपत्रोंसे बनी हुई पत्तलें श्रीविष्णुभगवान्‌को अति प्रिय हैं।'

पात्र-संस्कार

ब्रह्मपुराणमें लिखा है कि सोना, चाँदी, शङ्ख, पत्थर, सीप, स्फटिक आदि रत्न, काँसी, लोहा, ताँबा, पीतल, राँगे और सीसेके द्वारा निर्मित पात्र यदि अन्नादिसे लिप्त न हों तो केवल जलद्वारा ही शुद्ध हो जाते हैं; अन्नादिसे लिप्त होनेपर खटाई और राख आदिके द्वारा शुद्ध करे। ये पात्र यदि शूद्रोच्छिष्ट हों तो राख, खटाई और जलके द्वारा तीन बार माँजनेपर शुद्ध होते हैं। कहा है—

सुवर्णरूप्यशङ्खाश्मशुक्तिरत्नमयानि च।
कांस्यायस्ताम्ररैत्यानि त्रपुसीसमयानि च॥
निर्लेपानि तु शुद्ध्यन्ति केवलेनोदकेन तु।
शूद्रोच्छिष्टानि शोध्यानि त्रिधा क्षाराम्लवारिभिः॥

(ब्रह्मपुराण)

नैवेद्य

हविषा संस्कृता ये च यवगोधूमशालयः।
तिलमुद्गादयो माषा व्रीहयश्च प्रिया हरेः॥

(वामनपुराण)

'जौ, गेहूँ, चावल, मूँग, तिल अथवा मूँग, उड़द एवं गव्य—घृतादिसे संस्कृत करके तैयार किया हुआ नैवेद्य श्रीहरिको प्रिय होता है।'

श्रीभगवान्‌के नैवेद्यमें कभी अभक्ष्य वस्तु अर्पण न करे। परंतु शुद्ध और सुस्वादु वस्तु अर्पण करनी चाहिये। स्कन्द-पुराणमें आता है—

नैवेद्यानि मनोज्ञानि कृष्णस्याग्रे निवेदयेत् ।
कल्पान्तं तत्पितॄणां तु तृप्तिर्भवति शाश्वती ॥

'मनोरम नैवेद्य श्रीकृष्णके आगे निवेदन करनेपर कल्पान्त (प्रलय) पर्यन्त पितरोंको अक्षय तृप्ति प्राप्त होती है।'

अभक्ष्य

अयःपात्रे पयःपानं गव्यं सिद्धान्नमेव च ।
भृष्टादिकं मधु गुडं नारिकेलोदकं तथा ॥
फलं मूलं च यत्किंचिदभक्ष्यं मनुरब्रवीत् ।
दग्धान्नं तप्तसौवीरमभक्ष्यं ब्रह्मणा मतम् ॥
नारिकेलोदकं कांस्ये ताम्रपात्रे स्थितं मधु ।
गव्यं च ताम्रपात्रस्थं सर्वं मद्यं घृतं विना ॥
अभक्ष्यं मधुमिश्रं च घृतं तैलं गुडं तथा ।
आर्द्रकं गुडसंयुक्तमभक्ष्यं श्रुतिसम्मतम् ॥
द्विर्भोजनं च दिवसे संध्ययोर्भोजनं तथा ।
भक्ष्यं च रात्रिशेषे च ध्रुवं प्राज्ञः परित्यजेत् ॥
कर्पूरं रौप्यपात्रस्थमभक्ष्यं श्रुतिसम्मतम् ।
परिवेशनकारी चेद् भोक्तारं स्पृशेद् यदि ।
अभक्ष्यं च तदन्नं च सर्वेषामेव सम्मतम् ॥
अभक्ष्यं महिषाणां च दुग्धं दधि घृतं तथा ।
स्वस्तिकं च तथा तक्रं विप्राणां नवनीतकम् ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

''मनु कहते हैं कि 'लोहेके पात्रमें जलपान या दुग्ध-घृतादि, सिद्ध अन्न (भात आदि), भृष्ट (भूजा) आदि, मधु, गुड़, नारियलका पानी अथवा कोई फल-मूल भक्षण न करे।' ब्रह्मा कहते हैं कि 'दग्ध (जला हुआ) अन्न एवं गरम काँजी भक्षण न करे। काँसेके पात्रमें स्थित नारियल-का जल, ताम्रपात्रमें स्थित मधु, घृतको छोड़कर ताम्रपात्रमें स्थित दूध, दही तथा अन्य गव्य—ये सब मद्यके तुल्य हैं। वेदका वचन है कि मधुके साथ मिला घी, तेल, गुड़ तथा गुड़के साथ आर्द्रा (अदरक) अभक्ष्य हैं। बुद्धिमान् पुरुष दिनमें दो बार तथा दोनों संध्यामें एवं रात्रिके अवसानमें भोजनका अवश्य त्याग करे। वेदमें कहा गया है कि चाँदीके पात्रमें कपूर अभक्ष्य है। सब शास्त्रोंका मत है कि यदि परोसनेवाला भोजन करनेवालेका स्पर्श कर ले तो वह अन्न अभक्ष्य हो जाता है। भैंसका दूध, दही, घी, स्वस्तिक (मलाई), तक्र और मक्खन ब्राह्मणके लिये अभक्ष्य हैं। मद्य, मांस, मछली, अण्डे आदि तो सदा ही अभक्ष्य हैं।

गन्धद्रव्य

वशिष्ठसंहितामें लिखा है—

कर्पूरागुरुमिश्रेण चन्दनेनानुलेपयेत् ।
मृगदर्पं विशेषेण अभीष्टं चक्रपाणिनः ॥

'कपूर और अगरसे मिश्रित चन्दनके द्वारा विष्णुका अनुलेपन करे। कस्तूरी चक्रपाणि श्रीविष्णुभगवान्‌को विशेष प्रिय है।' स्कन्दपुराणके अनुसार सब गन्धोंमें चन्दन पवित्र है, चन्दनसे भी अगर श्रेष्ठ है, उससे भी काला अगर श्रेष्ठ है और काले अगरसे भी केसर श्रेष्ठ है। अगस्त्य-संहितामें लिखा है कि तुलसीकाष्ठ घिसकर श्रीरामके ललाटमें जो लेप किया जाता है, कपूर, अगर, कस्तूरी और केसर उसके समान नहीं हो सकते। प्रह्लादसंहितामें भी आता है—

न तेन सदृशो लोके वैष्णवो विद्यते भुवि ।
यः प्रयच्छति कृष्णाय तुलसीकाष्ठचन्दनम् ॥

'जो श्रीकृष्णको तुलसी-काष्ठका चन्दन निवेदन करता है, संसारमें उसके समान वैष्णव कोई नहीं है।'

व्यजन

अनुलिप्य जगन्नाथं तालवृन्तेन वीजयेत् ।
वायुलोकमवाप्नोति पुरुषस्तेन कर्मणा ॥
चामरैर्वीजयेद् यस्तु देवदेवं जनार्दनम् ।
तिलप्रस्थप्रदानस्य फलमाप्नोत्यसंशयम् ॥

(श्रीविष्णुधर्मोत्तर)

'जगन्नाथ भगवान् विष्णुका अनुलेपन करके उन्हें ताड़के पंखेसे हवा करे। इस कर्मके द्वारा मनुष्यको वायुलोककी प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति चँवरद्वारा देवदेव श्रीजनार्दनको व्यजन करता है, वह निश्चय ही एक प्रस्थ (दो सेर) तिल दान करनेका फल पाता है।'

उष्णकाले त्विदं ज्ञेयं यत् सन्तः पौषमाघयोः ।
शीतलत्वान्मलयजमपि नैवार्पयन्ति हि ॥

(श्रीविष्णुधर्मोत्त.)

'यह व्यजन (हवा करने) की सेवा ग्रीष्मकालमें ही विहित है; क्योंकि संतजन पौष-माघके महीनोंमें शीतलताके कारण श्रीकृष्णके अङ्गोंमें चन्दन भी नहीं लगाते।'

वस्त्रदान

नानादेशसमुद्भूतैः सुवस्त्रैश्च सुकोमलैः ।
धूपयित्वा सुभक्त्या च प्रधापयति माधवम् ॥

मन्वन्तराणि वसते तन्तुसंख्यं हरेर्गृहे ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास)

'जो नाना देशोंमें बने हुए सुन्दर कोमल श्रेष्ठ वस्त्रोंको भक्तिपूर्वक धूपसे धूपित करके माधवको पहनाता है, वह उन वस्त्रोंमें जितने सूत होते हैं, उतने मन्वन्तरतक हरिधाममें वास करता है।'

कौशेयानि च वस्त्राणि सुमृदूनि लघूनि च ।
यः प्रयच्छति देवाय सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥
(विष्णुधर्मोत्तर)

'जो सुन्दर, कोमल और बारीक कौशेय (रेशमी) वस्त्र श्रीविष्णुभगवान्को अर्पण करता है, उसको अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त होता है।'

अलंकार-दान

स्कन्दपुराणमें लिखा है—

गुञ्जामात्रं सुवर्णस्य यो दद्यात् विष्णुमूर्द्धनि ।
इन्द्रस्य भवने तिष्ठेद् यावदाभूतसम्प्लवम् ॥
तस्मादाभरणं देवि ! दातव्यं विष्णवे सदा ।

'जो एक गुञ्जा (रत्ती) मात्र सुवर्ण विष्णुको अर्पित करता है, वह महाप्रलयकालतक इन्द्रलोकमें वास करता है। इसलिये हे देवि ! विष्णुको सर्वदा अलङ्कार अर्पण करने चाहिये।'

दीप-दान

श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

यो ददाति महीपाल ! कृष्णस्याग्रे तु दीपकम् ।
पातकं तु समुत्सृज्य ज्योतीरूपं लभेत् पदम् ॥

'हे राजन् ! जो पुरुष श्रीकृष्णके सामने दीप निवेदन करता है, वह पापमुक्त होकर ज्योतिर्मय वैकुण्ठधामको प्राप्त होता है।' स्कन्दपुराणमें कहा गया है—

तन्नास्ति पातकं किंचित् त्रिषु लोकेषु नारद ।
यन्न शोधयते दीपः कार्तिके केशवाग्रतः ॥

'हे नारद ! त्रिलोकीमें ऐसा कोई पाप नहीं है, जो कार्तिक मासमें भगवान् विष्णुके सम्मुख दीप निवेदन करनेसे नष्ट नहीं होता।'

आकाश-प्रदीप

उच्चैः प्रदीपमाकाशे यो दद्यात् कार्तिके नरः ।
सर्वं लोकं समुद्धृत्य विष्णुलोकमवाप्नुयात् ॥

'जो मनुष्य कार्तिक मासमें आकाशमें उच्च प्रदीप जलाता है, वह अपने समस्त कुलका उद्धार करके विष्णुलोकको प्राप्त करता है।'

आकाशदीप प्रदान करनेका मन्त्र—

दामोदराय नभसि तुलायां लोलया सह ।
प्रदीपं ते प्रयच्छामि नमोऽनन्ताय वेधसे ॥

'हे दामोदर ! कार्तिक मासमें आकाशमें लक्ष्मीके सहित तुमको प्रदीप प्रदान करता हूँ। तुम अनन्त हो, तुम विधाता हो, तुम्हें नमस्कार !'

स्तव-माहात्म्य

स्तवन्नमेयमाहात्म्यं भक्तिप्रथितरम्यवाक् ।
भवेद् ब्रह्मादिदुर्लभ्यप्रभुकारुण्यभाजनम् ॥
(श्रीहरिभक्तिसुधोदय)

'जो पुरुष भक्तिपूर्वक रचे हुए मनोहर स्तवके द्वारा श्रीभगवान्के अपरिमेय माहात्म्यका कीर्तन करता है, ब्रह्मादि देवगण भी प्रभुके जिस अनुग्रहको प्राप्त नहीं कर सकते, उस अनुग्रहको वह प्राप्त करता है।'

श्रीकृष्णस्तवरत्नौघैर्येषां जिह्वा त्वलंकृता ।
नमस्या मुक्तिसिद्धानां वन्दनीया दिवौकसाम् ॥
(स्कन्दपुराण)

'श्रीकृष्णके स्तवरत्नोंके द्वारा जिनकी जिह्वा अलंकृत है, वे सिद्धों और मुनियों तथा देवताओंके द्वारा भी वन्दनीय हैं।'

प्रणाम

श्रीनृसिंहपुराणमें लिखा है—

नमस्कारः स्मृतो यज्ञः सर्वयज्ञेषु चोत्तमः ।
नमस्कारेण चैकेन नरः पूतो हरिं व्रजेत् ॥

'श्रीहरिको नमस्कार यज्ञरूप कहा गया है और वह सर्वयज्ञोंमें श्रेष्ठ है। एक बारके नमस्कारसे ही मनुष्य पवित्र हो जाता है और श्रीहरिको प्राप्त होता है।' आगमोंमें अष्टाङ्ग प्रणाम तथा पञ्चाङ्ग प्रणामका निर्देश इस प्रकार मिलता है—

अष्टाङ्ग

दोर्भ्यां पद्भ्यां च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा ।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥
जानुभ्यां चैव बाहुभ्यां शिरसा वचसा धिया ।
पञ्चाङ्गकः प्रणामः स्यात् पूजासु प्रवराविमौ ॥

'दोनों बाहु, दोनों पैर, दोनों जानु, वक्षःस्थल, सिर, नेत्र, मन और वचन—इन आठ अङ्गोंद्वारा किया गया प्रणाम 'अष्टाङ्ग प्रणाम' कहलाता है। दोनों जानु, दोनों बाहु, मस्तक, वाणी और बुद्धि—इन पाँच अङ्गोंके द्वारा किया गया प्रणाम 'पञ्चाङ्ग प्रणाम' कहलाता है। ये दोनों प्रकारके प्रणाम पूजामें सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं।'

श्रीहरिभक्तिसुधोदयमें कहा गया है—

विष्णोर्दण्डप्रणामार्थं भक्तेन पतता भुवि।
पतितं पातकं कृत्स्नं नोत्तिष्ठति पुनः सह॥

'श्रीविष्णुभगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम करनेके लिये भक्त जब भूतलपर पड़ जाता है, तब उसके देहस्थ सारे पाप उसके साथ ही गिर जाते हैं, अर्थात् विनष्ट हो जाते हैं। पर भक्तके उठनेके समय फिर वे पाप उठते नहीं अर्थात् उसके देहमें पाप नहीं रह जाते।' विष्णुधर्मोत्तरमें आया है—

देवार्चादर्शनादेव प्रणमेन्मधुसूदनम्।
स्थानापेक्षा न कर्त्तव्या दृष्टार्चां द्विजसत्तमाः॥
देवार्चादृष्टिपूतं हि शुचि सर्वं प्रकीर्तितम्॥

'श्रीविग्रहको देखते ही मधुसूदनरूपमें उसे प्रणाम करे। इसमें स्थानका विचार न करे, क्योंकि श्रीविग्रहकी पवित्र दृष्टिसे उसके सामनेका स्थान अथवा सब कुछ पवित्र हो जाता है।' परंतु—

जन्मप्रभृति यत्किंचित् पुमान् वै धर्ममाचरेत्।
सर्वं तन्निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात्॥

(विष्णुस्मृति)

'श्रीभगवान्‌को एक हाथसे कभी प्रणाम न करे; क्योंकि इस प्रकार प्रणाम करनेसे मनुष्यका आजन्म किया हुआ सारा धर्म निष्फल हो जाता है।' पद्मपुराणका वचन है—

कृत्वापि बहुशः पापं नरो मोहसमन्वितः।
न याति नरकं नत्वा सर्वपापहरं हरिम्॥

'अज्ञानवश अनेकों पाप करके भी यदि मनुष्य सर्व-पापापहारी श्रीहरिको नमस्कार करता है तो वह नरकमें नहीं जाता।'

प्रदक्षिणा या परिक्रमा

प्रदक्षिणां ये कुर्वन्ति भक्तियुक्तेन चेतसा।
न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम्॥

(वराहपुराण)

'जो भक्तियुक्त चित्तसे श्रीविष्णुकी प्रदक्षिणा करते हैं, उनको यमलोक नहीं जाना पड़ता; उन्हें भक्तोंको प्राप्त होनेवाली गति मिलती है।'

एकां चण्ड्यां रवौ सप्त तिस्रो दद्याद् विनायके।
चतस्रः केशवे दद्याच्छिवे त्वर्धप्रदक्षिणाम्॥

(नृसिंहपुराण)

'देवीकी एक बार, सूर्यकी सात बार, गणेशकी तीन बार, विष्णुकी चार बार तथा शिवकी आधी प्रदक्षिणा करनी चाहिये।' विष्णुस्मृतिमें लिखा है—

एकहस्तप्रणामश्च एका चैव प्रदक्षिणा।
अकाले दर्शनं विष्णोर्हन्ति पुण्यं पुराकृतम्॥

'विष्णुभगवान्‌को एक हाथसे प्रणाम, एक बार प्रदक्षिणा और अकाल अर्थात् स्नान, भोजन और शयनकालमें दर्शन करनेसे पूर्वकृत पुण्योंका नाश हो जाता है।'

(क्रमशः)

श्रीहनुमान्‌जीका अनुभव

राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥
बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥
राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं॥

(रामचरित० सुन्दर०)

श्रेष्ठ कौन—मुक्ति या भक्ति ?

(लेखक—श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्० ए०, बी० एल्०)

कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः
प्रादुष्कर्तुं कृष्णचैतन्यनामा ।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे
गाढं गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥
वैराग्यविद्यानिजभक्तियोग-
शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः ।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी
कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये ॥

हम इस लेखको श्रीकृष्णचैतन्यदेवके पावन चरणोंमें श्रीपाद कविकर्णपूरके द्वारा (जिन्हें उनकी शैशवावस्थामें श्री-श्रीमन्महाप्रभुने दुलारा था) अपने 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटकमें उद्धृत श्रीपाद सार्वभौम भट्टाचार्यके शब्दोंमें गम्भीर श्रद्धा समर्पित करते हुए आरम्भ करते हैं । श्रीक्षेत्र नीलाचल (पुरी) के सार्वभौम भट्टाचार्य पूर्वभारतके प्रधान शाङ्कर-मतानुयायी पण्डित थे; दूसरे पण्डित थे काशीके श्री-प्रकाशानन्दजी । मोक्षवादी पण्डितोंमें उस समय उन दोनोंके समान कोई नहीं था । संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभु जब पुरी गये, तब वहाँ वे 'भक्ति अथवा मुक्तिमें कौन श्रेष्ठ है ?' इस प्रश्नपर विचार करनेके लिये सार्वभौमसे मिले । सार्वभौम उनके तर्कसे पराजित हुए और श्रीमन्महाप्रभुद्वारा प्रतिपादित 'ऐकान्तिक कृष्ण-भक्ति' के कट्टर समर्थक बन गये । उद्भट विद्वान् तो वे थे ही । उसी क्षण श्रीचैतन्यकी अभ्यर्थनामें उन्होंने सौ श्लोक (सार्वभौमशतक) की रचना कर डाली । उन्होंने श्रीचैतन्यको गीतावक्ता श्रीकृष्णकी भाँति केवल वाणीसे ही नहीं, वरं आचरणसे भी 'कृष्णभक्ति' का उपदेश देनेके लिये अवतरित हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें देखा ।

जब श्रीमन्महाप्रभुने उन्हें—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥*
(श्रीमद्भा० १ । ७ । १०)

—इस श्लोककी व्याख्या करनेको कहा, तब सार्वभौमने इसके अनेक अर्थ किये और श्रीमन्महाप्रभुने उनके अतिरिक्त उसके अठारह और अर्थ सुनाये । इसपर उनके चरणोंमें सार्वभौमने अपनेको पूर्णतया समर्पित कर दिया । इस श्लोकमें मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है । सारे मुनिगण मुक्त तो थे ही, फिर भी वे भगवद्भक्त थे ।

इसी प्रकार काशीके स्वामी श्रीमत्प्रकाशानन्दजी भी जो प्रबल मुक्तिवादी थे और अपने प्रकाण्ड पाण्डित्यसे मुक्तिका समर्थन करते थे, अपनी विपुल शिष्यमण्डलीके साथ भक्तिमार्गके अनुयायी बन गये । उन लोगोंने यह अनुभव किया कि—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥
(श्रीमद्भा० ६ । १४ । ५)

अर्थात् करोड़ों सिद्ध और मुक्त पुरुषोंमें श्रीनारायण-परायण प्रशान्तचित्त महापुरुषका मिलना बहुत ही कठिन है ।

श्रीमद्भागवतकी अपनी भावार्थदीपिका टीकामें श्रीधर-स्वामिपाद, श्रीशङ्कराचार्यजीद्वारा रचित नृसिंहतापिनीके भाष्यसे उद्धरण देते हुए कहते हैं—

मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते ।

'मुक्त पुरुष भी लीलासे शरीर धारण करके भगवान्‌की भक्ति (भजन) में लीन रहते हैं ।' मूलश्लोक वेद-स्तुतिका है—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥*
(श्रीमद्भागवत १० । ८७ । २१)

* (सनकादि, शुकादि-सदृश) आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनिगण भी श्रीहरिकी अहैतुकी भक्ति किया करते हैं; क्योंकि श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं ।

* भगवन् ! परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है । उसीका ज्ञान करानेके लिये आप विविध प्रकारके अवतार ग्रहण करते हैं और उनके द्वारा ऐसी लीला करते हैं, जो अमृतके महा-सागरसे भी मधुर और मादक होती है । जो लोग उसका सेवन करते हैं, उनकी सारी थकावट दूर हो जाती है, वे परमानन्दमें मग्न हो जाते हैं । कुछ प्रेमी भक्त तो ऐसे होते हैं, जो आपकी लीला-कथाओंको छोड़कर मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करते—स्वर्ग आदिकी तो बात ही क्या है । वे आपके चरण-कमलोंके प्रेमी परम-हंसोंके सत्सङ्गमें, जहाँ आपकी कथा होती है, इतना सुख मानते हैं

श्रीधरस्वामिपादने यहाँ यह टिप्पणी दी है—

श्रुतिश्च मुक्तेरप्याधिक्यं भक्तेर्दर्शयति ।*

—और इसके बाद लिखते हैं—

त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः ।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥

अर्थात् हे भगवन् ! कुछ धीमान् व्यक्ति आपकी कथा-सुधाके समुद्रमें अत्यन्त आनन्दमें भरकर विहार करते हुए चतुर्वर्गको—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षको तृणवत् गिनते हैं।

श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता आदिके प्रसिद्ध भाष्यकार महामहोपाध्याय श्रीपाद विश्वनाथचक्रवर्ती ठाकुरने विशुद्ध द्वैतवादके प्रवर्तक नवम शताब्दीके श्रीमन्मध्वाचार्यद्वारा निर्दिष्ट निम्नलिखित श्रुति-वाक्यको यहाँ उद्धृत किया है—

'मुक्ता ह्येतमुपासते ।'
'मुक्तानामपि भक्तिर्हि परमानन्दरूपिणी ।'†

जब मार्कण्डेय ऋषिकी तपस्या-सिद्धिके विषयमें उमा-देवीने प्रश्न किया, तब रुद्रने निम्नलिखित श्लोकमें ऋषिकी स्वतःप्राप्त सिद्धिके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा—

नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ॥
(श्रीमद्भागवत १२ । १० । ६)

'ये ब्रह्मर्षि कभी भोगोंकी इच्छा नहीं करते; और तो क्या, ये मोक्ष भी नहीं चाहते; क्योंकि इन्होंने अविनाशी भगवान् पुरुषोत्तमकी परा या ऐकान्तिकी भक्ति प्राप्त कर ली है।'

यह मोक्षकी अपेक्षा परा भक्तिकी महान् श्रेष्ठताका स्पष्ट निदर्शन है। सांसारिक जीवनसे परितप्त लोग जिस मुक्तिकी कामना करते हैं, वह पाँच प्रकारकी होती है। भगवान्‌के भक्त, जिनका मन सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌की अनुरक्तिमें डूबा रहता है, दुःख पड़नेपर भी इस प्रकारके परितापोंका अनुभव नहीं करते; ये भक्त कभी मुक्तिके लिये नहीं तरसते। इस प्रसङ्गमें दक्षिणभारतके राजा कुलशेखरकृत प्रसिद्ध मुकुन्दमालास्तोत्र-की हमें याद आ जाती है, जिसमें वे लिखते हैं—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद् भाव्यं तद् भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम् ।
एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु ॥

'मेरी न तो धर्ममें आस्था है, न धनराशिमें और न कामोपभोगमें। पूर्वजन्मोंके कर्मानुसार जो कुछ होना है, वह हुआ करे। मुझे तो बस इतनी ही प्रार्थना प्यारी लगती है कि जन्म-जन्मान्तरमें भी (क्योंकि पुनर्जन्मसे बचनेके लिये मैं मोक्षकी प्रार्थना नहीं करता) आपके उभय चरण-कमलोंमें मेरी निश्चल भक्ति हो।'

भक्त अधिकाधिक दृढ़तर भक्तिके लिये प्रार्थना करता है; किंतु मुक्तिके लिये कभी नहीं।

हम यह भी देखें कि जब भगवान् मुँहमाँगा वरदान देनेको तैयार थे, तब ध्रुव और प्रह्लादने उनसे क्या माँगा। ध्रुवने कहा—

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । ११)

'हे अनन्त ! आपमें निरन्तर भक्तिभाव रखनेवाले शुद्ध-चित्त महापुरुषोंसे मेरा बारंबार समागम हो।'

स्थानाभिलाषी तपसि स्थितोऽहं
त्वां लब्धवान् देवमुनीन्द्रगुह्यम् ।
काचं विचिन्वन्नपि दिव्यरत्नं
स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे ॥

'राज्यपदकी अभिलाषासे तपस्यामें प्रवृत्त होकर मैंने देवताओं और मुनियोंके लिये भी अगम्य आपको पा लिया। काँचको खोजते हुए दिव्य रत्नको पाकर हे नाथ ! मैं कृतार्थ हो गया हूँ। अब किस वरकी याचना करूँ ?'

प्रह्लादने कहा—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १० । ७)

'हे वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ ! यदि आप मुझे इच्छित वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामनाओंका अङ्कुर ही उत्पन्न न हो।'

अथवा—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥
(विष्णुपु०)

कि इसके लिये इस जीवनमें प्राप्त अपनी घर-गृहस्थीका भी परित्याग कर देते हैं।

* श्रुतियाँ भी मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिकी अधिकता दर्शाती हैं।

† मुक्त पुरुष भी उनकी उपासना करते हैं। मुक्त पुरुषोंके लिये भी भक्ति परमानन्दका हेतु है।

'अविवेकी पुरुषोंकी विषयभोगोंमें जैसी निश्चल प्रीति होती है, आपका अनवरत स्मरण करनेमें वैसी ही प्रीति मेरे हृदयमें सदा बनी रहे—कभी हटे नहीं।'

इन याचनाओंमें कहीं भी मुक्तिकी अभिलाषा है क्या ? उनको सच्ची मुक्ति (भक्तिके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी अभिलाषासे शून्य होनेकी अवस्था) बिना उसकी लालसा किये पहले ही प्राप्त हो चुकी है।

भगवदावेशावतार श्रीकपिलदेवकी निम्नलिखित उक्तिका ध्यानपूर्वक मनन करनेसे बात एकदम स्पष्ट हो जायगी—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । ११–१३)

'मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे, समुद्रकी ओर जानेवाले गङ्गा-प्रवाहके समान मुझ सर्वान्तर्यामीकी ओर मनका निरन्तर प्रवाहित होना तथा मुझ पुरुषोत्तममें अकारण और अनन्य भक्तिभाव होना मेरे निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा जाता है। ऐसे भक्तजन मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्यको ही नहीं, कैवल्य मोक्षतकको, दिये जानेपर भी ग्रहण नहीं करते।'

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य जो मुक्तिकी श्रेष्ठताके कट्टर समर्थक थे, ऐसे अनन्य भक्त बन गये कि मुक्तिका नाम सुनना भी वे सहन नहीं कर पाते थे। उन्होंने श्रीमन्महाप्रभुके सम्मुख ब्रह्मस्तुतिके निम्नलिखित श्लोकके 'मुक्तिपदे' पदको 'भक्तिपदे' करके पढ़ा—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥*

* "इसलिये जो पुरुष 'आपकी कृपा कब होगी।' इस प्रकार उत्सुकतासे उसकी प्रतीक्षा करता हुआ (या सर्वत्र आपकी कृपाको भलीभाँति देखता हुआ) अपने प्रारब्ध-फलको भोगता है और मन, वाणी एवं शरीरसे आपको नमस्कार करता हुआ जीवन धारण करता है, वह आपके मुक्तिपदका अधिकारी हो जाता है।"

जब भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने उनसे इस परिवर्तनका कारण पूछा, तब सार्वभौमने कहा कि 'मुक्ति तो उन भगवद्विमुखोंके लिये एक दण्ड है, जो श्रीकृष्णविग्रहके अलौकिकत्वको न जानकर शिशुपाल, कंस, हिरण्यकशिपु इत्यादिकी भाँति उसकी निन्दा करते हैं। ये दो प्रकारके व्यक्ति ब्रह्मसायुज्य मुक्तिको प्राप्त होते हैं। भक्तिकी साधना करनेवालेके लिये तो मुक्ति—सायुज्य मुक्ति—फल नहीं है, उससे तो भक्त वैसे ही घृणा करता है, जैसे नरकसे करता है; क्योंकि वह उसे भगवत्सेवासे वञ्चित करानेवाली है। सायुज्यके अतिरिक्त अन्य चार प्रकारकी मुक्तियाँ (सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि, सारूप्य) यदि भगवत्सेवामें कुछ सहायक बन सकें तो भले ही वह उन्हें कभी-कभी अनिच्छापूर्वक स्वीकार कर ले सकता है। किंतु भगवान् नारायण दुर्वासा ऋषिसे कहते हैं—मेरे अनन्य भक्त मेरी सेवासे ही आप्तकाम रहकर उस सेवाके प्रभावसे प्राप्त होनेवाली सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य नामक चार प्रकारकी मुक्तियोंकी भी इच्छा नहीं करते, फिर काल-क्रमसे नष्ट हो जानेवाले अन्य भोगोंकी तो बात ही क्या है—

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतम्॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६७)

यद्यपि श्रीमन्महाप्रभु पूर्वोक्त श्लोकमें 'मुक्तिपदे' पाठकी शुद्धता यह कहकर सिद्ध कर देते हैं कि इसके पदवाच्य हैं—'भगवान् जिनके पद (चरणों) में मुक्ति रहती है।' फिर भी सार्वभौमको संतोष नहीं होता; क्योंकि उनकी दृष्टिमें उस 'मुक्ति'से ही सायुज्य अथवा कैवल्यकी ध्वनि निकलती है।

त्रिदण्डी स्वामी श्रीप्रबोधानन्दसरस्वती गोस्वामिपाद अपने चैतन्य-चन्द्रामृतमें इसी बातको इस प्रकार कहते हैं—

कैवल्यं नरकायते त्रिदशपूराकाशपुष्पायते।

'भक्तके लिये कैवल्य अथवा सायुज्य मुक्ति नरकके समान है और स्वर्ग आकाश-कुसुमके तुल्य।'

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ३४)

'मुझमें अनन्य प्रेम रखनेवाले धीर और साधु भक्त मेरे

देनेपर भी 'कैवल्य' अथवा 'अपुनर्भव' आदिकी इच्छा भी नहीं करते।'

भगवदावेशावतार श्रीकपिलदेव माता देवहूतिसे कहते हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥
(श्रीमद्भा० ३ । २५ । ३४)

'मेरी चरणसेवामें प्रीति रखनेवाले और मेरी ही प्रसन्नताके लिये समस्त कार्य करनेवाले कितने ही बड़भागी पुरुष, जो एक दूसरेसे मिलकर प्रेमपूर्वक मेरे ही पराक्रमोंकी चर्चा किया करते हैं, मेरे साथ एकीभाव (सायुज्यमोक्ष)की इच्छा भी नहीं करते।'

श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवके अनुयायी छः गोस्वामियोंमें प्रधान श्रीरूपगोस्वामिपादने, जिनके नामपर महाप्रभुके अन्यतम अन्तरङ्ग भक्त 'रूपानुग' कहलाये, भक्तितत्त्वका विवेचन करनेवाले अपने सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें लिखा है—

मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ।
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः॥
(पूर्व० १ । ३३)

'जब भक्तके हृदयमें लेशमात्र भी भगवत्-रति जाग उठती है, तब धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूपी चारों पुरुषार्थ उसे तृणवत् प्रतीत होने लगते हैं।' इसके समर्थनमें वे नारद-पञ्चरात्रका निम्नलिखित वचन उद्धृत करते हैं—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥

'मुक्ति एवं अद्भुत भोगोंसे युक्त समस्त सिद्धियाँ हरि-भक्तिरूपी महादेवीके पीछे-पीछे उनकी दासीकी भाँति चलती हैं।'

दक्षिणभारतके सुप्रसिद्ध श्रीबिल्वमङ्गल ठाकुरने अपने विख्यात श्रीकृष्णकर्णामृतमें इसी बातको इस प्रकार कहा है—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्याद्
दैवेन नः फलति दिव्यकिशोरमूर्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मान्
धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः॥१०७॥

'भगवन्! यदि आपके प्रति भक्तिकी स्थिरता बढ़ जाय, तो आपकी दिव्य किशोरमूर्ति हमें मानो प्रारब्धके वशीभूत होकर प्राप्त हो जायगी। स्वयं मुक्ति हाथ जोड़े हमारी सेवामें लगी रहेगी। तथा धर्मार्थकामरूपी त्रिवर्ग सेवाके लिये अवसर ढूँढ़ते हुए खड़े रहेंगे।'

यहाँ मुक्तिसे अभिप्राय अविद्या-नाशसे है। मायाके प्रभावसे हमारा चित्स्वरूप, जिसका सनातन धर्म भगवत्सेवा ही है, आच्छन्न हो गया है। भक्तिके आगमनसे इस आवरण-का हट जाना ही मुक्ति है; क्योंकि अन्यरूप (शरीर एवं मन) को छोड़कर अपने स्वरूपको फिरसे पा लेना ही मुक्ति है—

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।
(श्रीमद्भा० २ । १० । ६)

इस प्रकारकी मुक्ति भक्तके पास स्वयं ही चली आती है; क्योंकि जहाँ माया अथवा अविद्या हो, वहाँ भक्ति ठहर ही नहीं सकती। भक्त अवश्य ही जीवन्मुक्त पुरुष होता है।

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

"प्रत्येक अवस्थामें जिसकी मन, वाणी और कर्मसे हरि-सेवाकी इच्छा है, उसीको 'जीवन्मुक्त' कहते हैं।" ऊपर कही हुई पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे किसीकी भी अभिलाषाको भक्तगण गर्हित बताते हैं। भक्त न तो मुक्तिके लिये चेष्टा करता है और न उसे ऐसी चेष्टाकी आवश्यकता ही है; क्योंकि श्रीनारदपञ्चरात्र तथा श्रीकृष्णकर्णामृतसे उद्धृत उपर्युक्त श्लोकोंमें जैसा बताया गया है, मुक्ति (अविद्याका सर्वथा नाश) भक्तिका एक आनुषङ्गिक सहज परिणाम है।

सामान्य कौटुम्बिक जीवनके एक उदाहरणसे इस बातको पूर्णतया समझा जा सकता है। बहुत दिनों पहलेकी बात है। एक निरक्षर ग्रामीणने किसी प्रकार अपने लड़केको पढ़ा-लिखाकर इस योग्य बना दिया कि वह अपने जिलेसे दूर कहीं डिप्टी कलेक्टर हो गया। जब वह युवक अपने पिताके सामने इस सुसंवादको लेकर उपस्थित हुआ, तब पिता लड़केसे इस-लिये रुष्ट हो गया कि वह पासवाली पुलिस चौकीका दारोगा नहीं बन सका। उसके विचारसे प्राप्त करने योग्य पदोंमें दारोगाका पद ही सबसे ऊँचा था और इस कार्यमें उसका लड़का असफल सिद्ध हुआ। उसे विश्वास नहीं हो सका कि दारोगाको तो उसके लड़केके सामने खड़ा रहना चाहिये; बल्कि इस बातको उसने मजाक समझा। इसी प्रकार जिसके मनमें

मुक्ति-ही-मुक्तिकी बात भरी है और जो उसीकी प्राप्तिके लिये कठिन परिश्रम करते हैं, वे इस सत्यपर विश्वास ही नहीं कर सकते कि सच्चा भक्त पहले ही मुक्त हो चुका है, मायाके बन्धनसे सर्वथा छूट चुका है। जब कभी तुमको मुक्तिकी आवश्यकता प्रतीत हो, तब समझो कि तुम भक्तिके मार्गसे दूर जा रहे हो; क्योंकि भक्तिके भीतर ही मुक्तिका समावेश है। तुम भगवद्दास हो, अपने इस रूपको भूलकर तुम मिथ्या स्वार्थके लिये प्रयास कर रहे हो। तुम अपने स्वरूपको फिरसे प्राप्त कर सकते हो यदि मायाकी बेड़ियोंको काट डालो तथा ज्ञान-कर्म-जैसी तुच्छ इच्छाओंसे रहित भक्तिका आचरण करो। मुक्तिकी इच्छा भी काम है; क्योंकि तुम उसे अपने लिये चाहते हो, भगवत्सेवाके लिये नहीं। सांसारिक जीवनके दुःखों एवं चिन्ताओंसे परितप्त होकर तुम उससे छूटना चाहते हो, मुक्त होना चाहते हो। 'आत्मेन्द्रिय-प्रीतिवाञ्छा'में और इसमें कोई अन्तर नहीं है। चैतन्य-चरितामृतने हमको इसके विरुद्ध सावधान किया है—

आत्मेन्द्रियप्रीतिवाञ्छा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रियप्रीतिवाञ्छा धरे प्रेम नाम॥

"अपनी इन्द्रियोंके सुखकी इच्छाका नाम काम है और श्रीकृष्णके सुखकी इच्छाका नाम है 'प्रेम'।" भक्तिके स्वाभाविक रूपका भी नाम 'प्रेम' ही है।

अपने उपाधिरहित अथवा मुक्त स्वरूपमें तुम भक्त हो और भक्ति ही तुम्हारा सर्वस्व है। माया अथवा अविद्याके पाशमें बँध जानेपर तुम भक्तिको भूल जाते हो और इस जालसे छूटनेके लिये दूसरे-दूसरे उपाय करने लगते हो। अतएव हमलोगोंको भक्तिके पावन पथपर चल पड़ना चाहिये तथा सदा आगे बढ़ते रहना चाहिये। साथ ही इस बातका भी ध्यान रखना चाहिये कि शुद्ध भक्ति कर्म-ज्ञान आदि अन्याभिलाषसे युक्त न हो। शुद्ध भक्तिके पथपर हम जितना ही आगे बढ़ेंगे, उतना ही हम अपनेको मायासे मुक्त करते जायँगे अर्थात् वास्तवमें मुक्त होते जायँगे। यद्यपि भक्त कभी मुक्तिकी वाञ्छा अथवा उसके लिये चेष्टा नहीं करता, तथापि वास्तवमें मुक्त वही है। और बिना भक्तिके कोई मुक्ति हाथ नहीं लगती, जैसा कि श्रीब्रह्माजीने श्रीकृष्णकी भगवत्ताकी परीक्षा करनेके लिये उनके गोवत्सों एवं गोपालोंको चुरा ले जानेके पश्चात् उनसे कहा था—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।४)

'हे विभो! जो पुरुष कल्याणप्राप्तिकी सरणिरूपा आपकी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानलाभके लिये ही क्लेश उठाते हैं, उनके लिये केवल कष्ट ही शेष रहता है, उन्हें और कुछ नहीं मिलता, जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको श्रमके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता।'

भक्ति प्राप्त करनेके लिये हमलोगोंको भक्तोंद्वारा उच्चारित हरिनामका श्रवण करना चाहिये, गुरुपादाश्रय ग्रहण करके भक्तोंके सङ्गमें नामकीर्तन करना चाहिये और पद्मपुराणमें गिनाये हुए दस नामापराधोंको क्रमशः छोड़ते जाना चाहिये। जब नामापराध छूट जाते हैं, तब हम उस अवस्थापर पहुँचते हैं जिसे नामाभास कहते हैं, और तब हम मुक्त हो जाते हैं। सदा सच्चे भक्तोंके साथ रहते हुए फिर हम उस स्थितिमें पहुँचते हैं जहाँ क्रमशः हम निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव और अन्तमें प्रेमको प्राप्त कर लेते हैं। भक्तसङ्गके बिना हम मुक्ति-सेवित भक्तिको प्राप्त करनेकी दिशामें कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल मुक्त पुरुष ही अपराधशून्य शुद्ध हरिनामका उच्चारण कर सकते हैं। इसका उल्लेख श्रीरूपगोस्वामिपादने अपने श्रीकृष्णनामाष्टकके पहले श्लोकमें किया है—

निखिलश्रुतिमौलिरत्नमाला-
द्युतिनीराजितपादपङ्कजान्त।
अयि मुक्तकुलैरुपास्यमानं
परितस्त्वां हरिनाम संश्रयामि॥

'हे हरिनाम! आपके कमलसदृश चरणप्रान्त (नख) की सम्पूर्ण श्रुतियोंके शीर्षस्थानीय उपनिषद्रूपी रत्नमालाकी किरणोंद्वारा आरती उतारी जाती है। मुक्त पुरुष आपकी उपासना करते हैं। ऐसे आपका मैं सब ओरसे आश्रय ग्रहण करता हूँ।'

श्रीशुकदेव गोस्वामिपादने हमें इस प्रकारका परामर्श दिया है—

नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात्।
न यत्पुनः कर्मसु सज्जते मनो
रजस्तमोभ्यां कलिलं ततोऽन्यथा॥
(श्रीमद्भा० ६।२।४६)

'तीर्थपाद श्रीहरिके नाम-संकीर्तनसे बढ़कर मुमुक्षु पुरुषोंके कर्मबन्धनको काटनेवाला और कोई साधन नहीं है; क्योंकि उसके कारण मनुष्यका चित्त फिर कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, जब कि दूसरे प्रायश्चित्तोंके करनेपर भी वह रजोगुण-तमोगुणसे ग्रस्त रहता है।'

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीचैतन्यदेवने कहा है—

ज्ञानी जीवन्मुक्त करि आपनारे माने।
वस्तुतः चित्तशुद्धि नहे कृष्णभक्ति बिने॥
(मध्य २२ प०)

'ज्ञानवादी अपनेको जीवन्मुक्त मान लेते हैं, किंतु वास्तवमें कृष्णभक्तिके बिना चित्त शुद्ध नहीं होता।'

देवकीगर्भस्थित भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते समय श्रीब्रह्मा, श्रीशिव, अन्य देवगण तथा श्रीनारदादि मुनिगण कहते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥
(श्रीमद्भा० १०।२।३२)

'हे कमललोचन! आपके भक्तोंसे भिन्न जो अन्य पुरुष मुक्त होनेका व्यर्थ अभिमान करते हैं, किंतु आपके भक्तिभावसे रहित होनेके कारण जिनका चित्त शुद्ध नहीं है, वे बड़े परिश्रमसे प्राप्त किये हुए स्वर्गादि उत्तम लोकोंमें जाते हैं, किंतु फिर आपके चरणोंकी आराधनासे विमुख होनेके कारण वहाँसे नीचे गिरते हैं।' दूसरे श्लोकमें इस अवस्थासे भक्तोंकी स्थितिका विरोध दिखाते हुए कहते हैं—

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥
(श्रीमद्भा० १०।२।३३)

'किंतु हे माधव! जो आपमें ही सुदृढ़ प्रेम रखनेवाले आपके भक्तजन हैं, वे ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति कभी सन्मार्गसे भ्रष्ट नहीं होते। प्रभो! आपसे सुरक्षित होकर वे विघ्नोंकी सेनाके सरदारके सिरपर पैर रखते हुए निर्भय विचरते हैं।'

उपर्युक्त दोनों श्लोक मोक्षवादियोंकी मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठताके विषयमें कोई संदेह नहीं रहने देते।

प्रेम-भक्ति ही जीवनके लिये परम प्राप्तव्य है। भगवद्दासके रूपमें जीवकी सर्वोत्तम स्थितिके सामने मुक्तिवादियोंकी पद्धतिके अनुसार किया हुआ कोई प्रयास ठहर नहीं सकता।

अन्तमें हम ब्रह्मसंहिताके शब्दोंमें श्रीगोविन्दकी स्तुति करते हुए यह विवेचन समाप्त करते हैं—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति।
श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

'मैं अचिन्त्य गुण और रूपवाले आदिपुरुष श्रीगोविन्दकी शरण ग्रहण करता हूँ, जिनकी श्रीश्यामसुन्दरमूर्तिको संत पुरुष सदैव अपने हृदयमें प्रेमाञ्जनसे आँजे हुए भक्तिरूपी नेत्रोंसे देखते रहते हैं।'

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

रागादि बन्धन कबतक हैं ?

ब्रह्माजी कहते हैं—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्। तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।३६)

सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामसुन्दर! तभीतक राग-द्वेष आदि दोष चोरोंके समान सर्वस्व अपहरण करते रहते हैं, तभीतक घर और उसके सम्बन्धी कैदकी तरह सम्बन्धके बन्धनोंमें बाँध रखते हैं और तभीतक मोह पैरकी बेड़ियोंकी तरह जकड़े रखता है—जबतक जीव आपका नहीं हो जाता।

वेदोंमें भक्तियोग

(लेखक—श्री ग० ना० बोधनकर, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

भगवत्प्राप्तिके अनेक साधनोंमें भक्तियोग सबसे सहज और शीघ्रफलदायी साधन है। अन्य साधनोंमें शारीरिक, मानसिक या बौद्धिक बलविशेषकी आवश्यकता होती है। अतः वे सर्वसाधारणके लिये कष्टसाध्य हैं। इतना ही नहीं, उनकी प्रक्रियाओंमें कुछ त्रुटि होनेसे वे विफल भी हो जाते हैं।

भक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) सगुण और (२) निर्गुण। सगुण भक्तिकी पूर्णावस्था या पराकाष्ठा निर्गुण-भक्तिका प्रवेशद्वार अथवा विशेषरूपमात्र कहा जा सकता है।

ज्ञानका सम्बन्ध प्रधानतः बुद्धि और विवेकसे, कर्मका क्रिया और करणोंसे और भक्तिका हृदय और मनोवृत्तियोंसे होता है। भक्तिसे चित्तशुद्धि, वासनाक्षय, कर्तृत्वाभिमान-शून्यता और परमात्मामें सप्रेम तल्लीनता होती है। विशुद्ध मानव-हृदयका नाम वसुदेव है और यही वासुदेवका निवास-स्थान है। जब साधककी बुद्धि, मनोवृत्ति और वासनाकी शुद्धता, एकार्थता या एकरूपता हो जाती है, तब उसे इस वसुदेवमें वासुदेवकी अनुभूति होती है। उस महाभागवतको सारा विश्व वासुदेवमय प्रतीत होता है, और भगवान्की सत्ता तथा विभूतिका सर्वत्र अनुभव होने लगता है।[1]

भगवत्प्राप्तिके साधनोंमेंसे जिस साधनके साथ साधकका साधर्म्य होता है, वह साधन उसके लिये सुकर, आनन्दप्रद और शीघ्रफलदायी होता है। भक्त अपने उपास्यके अमृतत्व, भक्तवात्सल्य, सर्वज्ञत्व, अनन्तशक्तिमत्त्व और सर्वव्यापित्वपर दृढ़ विश्वास रखता है और उसके प्रति निस्सीम तथा निष्काम प्रेम करता है। वह अपने उपास्यको ही अपना पिता, बन्धु, माता, भ्राता, विधाता—अपना सर्वस्व मानता है और भगवत्प्रेम ही उसका जीवनोद्देश्य होता है। उसकी मनोवृत्तियाँ सदैव भगवल्लीन रहती हैं।

भगवान् प्रेमरूप हैं। प्रेम ही मानव-हृदयका सर्वोत्कृष्ट भाव है। प्रेम ही मानव-हृदयको विशुद्ध करता है और साधकको भगवत्कृपाका पूर्ण अधिकारी बनाता है। भगवान् अपने भक्तसे केवल प्रेमकी ही अपेक्षा करते हैं और उसपर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं। इस प्रकार भगवान् और भक्त परस्पर प्रेमी ('वेन') बन जाते हैं। साधक इस मार्गपर ज्यों-ज्यों अग्रसर होता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसे अधिकाधिक विशुद्ध प्रेम और आनन्दका अनुभव होने लगता है और साधनाका परिमाण पर्याप्त होनेपर प्रातः-समीरणके सुखद शीतल स्पर्शसे खिलनेवाली कोमल कमल-कलिकाके सदृश भगवत्प्रेम-समीरके सुखद स्पर्शसे भक्त-हृदय-कंज प्रस्फुटित हो उठता है और तदवस्थित परम गोपनीय अव्यक्त-तत्त्व व्यक्त हो जाता है। भक्त-हृदयमें अविरत बहनेवाली उत्कट प्रेमधारा अमर्याद होती है और प्रेमानन्दकी वंशी बजाता हुआ भावोन्मादित भक्तप्रवर विश्वमें उन्मुक्त विचरण करता है।

इस प्रकार नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमात्मा भक्तकी प्रेमशृङ्खलासे बँध जाता है। 'बंदी' की यह बद्धता वैसे ही स्वनिर्मित होती है, जैसे भक्तकी भगवान्के प्रति अनन्य शरणागति। फलतः न तो 'बंदा' इस 'बंदी' को अपने हृदय-पंजरसे निकलने देता है न 'बंदी' ही इस बन्धनसे विमुक्त होनेके लिये आतुर होता है।

मनुष्यकी भावनाएँ उत्कटताको प्राप्त होनेपर गान और संगीतके रूपमें प्रकट होती हैं। इसी प्रकार विशुद्ध प्रेमोद्रेक-सम्पन्न हृदयके भाव स्तवन-काव्योंके रूपमें व्यक्त होते हैं। आत्यन्तिक प्रेमके पीयूष-रससे सराबोर वैदिक कविका भावुक हृदय स्तवनोत्सुक हो सहज स्वभावसे गा उठता है।

कविका निर्व्याज, स्वयंस्फूर्त, मनोमुग्धकारी, अलौकिक संगीत इसी भाव-वीणाका मधुर झंकार है; भावावेशित प्रेमी भक्तके हृदय-सिन्धुकी आनन्दोर्मियोंका सात्त्विक निनाद है; भगवान्की सत्ता, विभूति और सौन्दर्यका भक्त-मन-मुकुरस्थ मनोहर प्रतिबिम्ब है; और सुख तथा शान्तिके लिये अपने एकमात्र आधारसे याचना करनेवाले भक्तकी आर्त पुकार है। अनेक विद्वानोंका मत है कि स्तवनपरक ऋग्वेद-सूक्तोंका जन्म इसी दिव्य भावमें हुआ है।

कुछ विद्वानोंका मत है कि 'भक्ति या भक्तियोगकी यह उच्च और प्रगल्भ कल्पना वैदिककालमें मूर्तस्वरूपको नहीं प्राप्त हुई थी। वैदिक सूक्तोंकी रचना प्रायः यज्ञ-सम्पादनार्थ ही की गयी थी और उनमें यज्ञ-देवतासे धन, पशु, पुत्र, यश, दीर्घायु, बल आदिकी याचना की गयी है। ऋग्वेदकालीन लोगोंमें येहोवाके भक्तोंके समान अपने आराध्यके प्रति दृढ़

१. श्रीमद्भा० ४ । ३ । २३; श्रीमद्भगवद्गीता ७ । १९ ।

विश्वास, आदर और भय नहीं था और उनकी की हुई प्रार्थनाएँ उतनी निस्स्वार्थ और भक्तिभावपूर्ण नहीं हैं। हिब्रू लोगोंके धार्मिक काव्यके समान उच्च कल्पनातरङ्गोंका अथवा निर्मल भक्तिका प्रगाढ़ उद्रेक ऋग्वेदमें दिखायी नहीं देता। उसी प्रकार ऋग्वेदकालमें पुनर्जन्मकी कल्पना प्रचलित न होनेसे जन्म-मरणके आवर्तोंसे छुटकारा पानेके लिये भयभीत भक्तकी आराध्यके प्रति आर्त-प्रार्थना भी इन स्तवनोंमें नहीं पायी जाती[२]।' इत्यादि। परंतु हमारी अल्पमतिमें यह मत भ्रममूलक है।

अनेक विद्वानोंने वैदिक काव्य-रचनाको आदिम, असंस्कृत लोगोंके जातीय गीत या ग्रामीण रचनामात्र कहा है; किंतु वैदिक आर्योंका छन्द, अलङ्कार और भाषाविषयक ज्ञान और उनके कल्पनाकाशकी व्यापकता, विचार-प्रागल्भ्य, वर्ण्यविषयोंकी शुचिता और उदात्तता, सौन्दर्य-प्रेम, विश्व-निरीक्षण-बुद्धि, सदभिरुचि आदिका विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इनपर असभ्यताका दोषारोप करना सर्वथा असङ्गत और अनुचित है। गायत्री, अनुष्टुभ्, त्रिष्टुभ, पङ्क्ति, महापङ्क्ति, जगती, उष्णिक्, बृहती, द्विपदा, विराज्-जैसे छन्दोंका और अक्षर, मात्रा, लयका जिसमें कुशल प्रयोग किया गया है, भावोंका व्यक्तीकरण अत्यन्त ही सूत्ररूपेण करनेमें जो काव्यदृष्टिसे अद्वितीय है, जो काव्य अर्थगाम्भीर्य, कल्पना-प्राचुर्य, प्रतिभा, सरसता आदि दिव्य गुणोंसे समलंकृत है, उसे असंस्कृत ग्रामीणोंके जातीय या ग्रामीण निकृष्ट गीतमात्र कह देना अन्याय और बेसमझी है। इन्द्र-वायु-वरुण-अग्नि-उषासूक्तोंकी प्रतिभा, तालबद्धता तथा काव्योत्कृष्टता और उसी प्रकार अनेक यज्ञिय तथा शान्तिपरक सूक्तोंकी भक्त्युत्कटता स्पृहणीय हैं। सारे विश्वकी शान्ति और अखिल मानवसमाजके कल्याण तथा विश्वधर्मकी परमोदात्त कल्पना करनेवाला हृदय साधारण कोटिका नहीं हो सकता और ऋग्वेद २। १। ३१४, ११-जैसे मन्त्रोंकी रचना नहीं कर सकता।

प्रायः सभी विद्वानोंकी मान्यता है कि भाषा और अर्थकी दृष्टिसे वेद दुर्बोध हैं तथापि अनेक पाश्चात्त्य और भारतीय पण्डितोंने इस[३] क्षेत्रमें पर्याप्त गवेषणा की है। अधिकांश पाश्चात्त्य विद्वानोंने वेदोंके अर्थ सामान्य भाषाशास्त्र, समाजशास्त्र, मानववंशशास्त्र और तुलनात्मक व्युत्पत्तिशास्त्रके सिद्धान्तोंके सहारे ही लगाना पसंद किया; किंतु अनेक विद्वानोंने यास्क, सायणाचार्य आदि भारतीय टीकाकारोंके मतोंका भी विचार करना उचित समझा। अध्ययन-पद्धतिकी इस विभिन्नताके कारण वेदोंके अर्थ, वैदिकसूक्तनिर्माणके हेतु तथा वैदिक काव्यके वास्तविक स्वरूप आदिके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद हैं। एक ओर ब्रुन्होफर-जैसे विद्वान्ने ऋग्वेदके एक उत्तरकालीन सूक्तरचनाकारको कवियोंका मुकुटमणि कहा है और वैदिक काव्यकी तुलना चंडोलके मनोमुग्धकारी प्रभात-गीतसे की है।[४] उसी प्रकार पाश्चात्त्य विद्वान् केगीका मत है कि 'वैदिक सूक्त-रचना मानवीय अन्तःकरणकी भक्तिभावनाके उत्कट उद्रेकका काव्यमय व्यक्तीकरण, और शुद्धभावसे अर्पण किये हुए हविर्भागको सप्रेम स्वीकार करनेके लिये ऋषियोंद्वारा की गयी देवताओंकी प्रार्थनाका काव्यमय प्रकटीकरण है।[५]'

दूसरी ओर ओल्डेनबर्ग-जैसे विद्वान्का मत है कि वैदिक सूक्तोंके रचना-कालमें आर्योंके आध्यात्मिक ह्रासका प्रारम्भ हो चुका था। ऋग्वेदीय सूक्तोंका हेतु ईश्वरविषयक ज्ञान कराना नहीं था; उनका एकमात्र हेतु था—योगक्षेमार्थ देवताओंका स्तवन करना[६]। ह्विट्ने तो वेदोंको भारतीय मौलिक कृति ही नहीं मानते, अपितु इन्डो-जर्मानिक रचना मानते हैं। विंटरनीज़ तथा डॉ० केतकर-जैसे विद्वान् इन दोनों मतोंको अतिशयोक्तिपूर्ण बतलाते हैं; किंतु यह निर्विवाद है कि यज्ञियसूक्त और आप्रीसूक्तोंके अतिरिक्त ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनका हेतु केवल यज्ञ-सम्पादन नहीं था। (उदाहरणार्थ देखिये—इन्द्र-वायु-वरुण-अग्नि-उषा-सूक्त तथा अध्यात्म-संस्कार-दान-आख्यानविषयक सूक्त और कूटकाव्यमय, मान्त्रिक तथा लौकिक सूक्त।)

ऐसी अवस्थामें 'वेदोंमें भक्तियोग'-जैसे विवादात्मक विषयका विवेचन करना धृष्टतामात्र है। तथापि यह स्पष्ट है कि अनेक वैदिक रचनाएँ, किसी भी दृष्टिकोणसे क्यों न हों, भक्तिपूर्ण या स्तवनपरक हैं और भगवद्भक्तिप्रभावित

२. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष, भाग २।

३. उदाहरणार्थ लुडविग, मैक्समूलर, थिबो, हॉपकिन्स, केगी, ह्विट्ने, विल्सन, मैकडोनल, विंटरनीज़, हिलेब्रान्ट, ओल्डेनबर्ग, पिशेल, गेल्डनेर, दयानन्दसरस्वती, लोकमान्य तिलक, रमेशचन्द्रदत्त, तैलंग, ए० सी० बोस, राजेन्द्रलाल मित्र, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

4. 'Uber Den Geist de Indischen Lyrik'

5. Der Rigveda die Alteste Literatureder Inder

6. Religion des Veda.

शुद्धान्तःकरणसे प्रवाहित हुई हैं, यद्यपि भागवत या भगवद्-गीतामें वर्णित भक्तियोगका स्वरूप और वैदिक भक्तियोग-का स्वरूप भिन्न है। यहाँपर वैदिक भक्तियोगकी रूपरेखा अतिसंक्षेपमें अङ्कित करनेका यत्न किया जायगा।

भक्त, भगवान् और भक्ति—ये तीनों परस्परावलम्बी हैं। किसी-न-किसी रूपमें भगवान्का अस्तित्व माने विना भक्तियोग सम्भव नहीं? अतः हमलोग सर्वप्रथम वेदोंकी ईश्वरविषयक धारणापर विचार करें।

इस सम्बन्धमें भी विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार वेद एकेश्वरवाद (Monotheism)[७] का प्रतिपादन करते हैं और कुछ विद्वानोंके मतसे अनेकदेवतावाद (Polytheism) का, जैसा कि मिश्र, बैबिलोनिया और यूनानी सभ्यताओंमें प्रचलित था[८]। विश्व-सौन्दर्य-मुग्ध-भावावेशित कविहृदयकी संवेदनाओंकी प्रतिक्रिया अनेक-देवतावादके रूपमें प्रकट होती है और यह व्यक्तीकरण काव्यमय तथा कल्पना-प्रचुर होता है। मैक्समूलर, ए०सी०बोस-जैसे विद्वानोंके मतानुसार वेद 'एकमें अनेक देवता और अनेकमें एक ही देवता'के सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। इस मतके अनुसार—

(१) प्रत्येक देवता तत्त्वतः या मूलतः अन्य देवताओं-से अभिन्न हैं।

(२) सभी देवता एक ही 'सत्' वा 'एकम्' से अभिन्न हैं।

(३) प्रत्येक देवता 'ऋतम्' और 'सत्यम्' की प्रतिमा, सौन्दर्य, नीति, विभूति, सद्गुण, ओज एवं तेजकी पराकाष्ठा और सुख तथा आनन्दका प्रतीक है।

तात्पर्य, सभी देवता एक ही देवता (एकम्) में संनिहित हैं और प्रत्येक देवता अन्य सभी देवताओंमें विद्यमान है—विश्वदेव है।[९] अन्यान्य देवता एक ही ईश्वरके भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंके प्रतीकमात्र हैं; किंतु वे न तो पुरुषदेहधारी हैं न स्त्रीवेषधारी। वे निराकार स्फूर्तियाँ (Formless Visions) मात्र हैं। एक ही परमात्माके नाम और रूप हैं।[१०] अध्यात्मदृष्ट्या वेद एक ही सत्तत्त्व (Metaphysical essence) को मानते हैं,[११] किंतु इसका साङ्गोपाङ्ग तात्त्विक विवेचन उपनिषत्कालमें ही पाया जाता है। आगे चलकर अद्वैत वेदान्त-मतके प्रचारकोंने इसका अति सूक्ष्म और शास्त्रीय विवेचन करके इस 'सत्तत्त्व'को 'ब्रह्म' कहा है। वेदोंके मतानुसार सारा विश्व इस परमतत्त्वमें ही अवस्थित है। **(यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्)**। (यजु० ३२)

सामाजिक तथा सामुदायिक दृष्टिसे भी वेद उपर्युक्त 'एकमें अनेक और अनेकमें एक' के सिद्धान्तका ही प्रतिपादन करते हैं। उनका कथन है कि चारों वर्ण एक ही 'पुरुष' से उत्पन्न हुए हैं। सभी मानवजातिका ईश्वर एक ही है। 'समदेश्य' और 'विदेश्य' का ईश्वर एक ही है। इतना ही नहीं, समस्त भूतोंका, पुण्यात्माओं तथा पापियोंका भी ईश्वर एक ही है।[१२] वैदिक आर्य 'समदेश्य' से तो क्या 'विदेश्य' से भी घृणा नहीं करते। वे विश्वशान्ति और विश्वप्रेमके उपासक हैं और सदा मानव-समाजके क्षेम—कल्याणके लिये जगत्पितासे प्रार्थना करते हैं। यही उस परमोदात्त विश्वधर्म या मानवधर्मका बीज है, जिसने वैदिकधर्मको, वेदप्रतिपादित सनातन आदर्शोंको सहस्रों वर्षोंसे जीवित रखकर सारे संसारको आजतक स्तम्भित कर रखा है। यह विश्वप्रेम वा भूतदया प्रेमस्वरूपकी भक्ति या प्रेमका ही रूपान्तर है और यही मानवको विश्वकुटुम्बी, विश्वबन्धु और

---

७. एकेश्वरवादी खिस्ती-धर्मानुसार ईश्वरके कुछ लक्षण ये हैं—(१) ईश्वर एक है; (२) वह पुरुषदेही है; (३) मानव-जातिके लिये पितातुल्य है; (४) वह 'स्वर्ग' में निवास करता है; (५) वह वयस्कर (Patriarch) है; (६) वह जगत्पर शासन करता है; (७) मृत्युके बाद मनुष्यको सद्गति देता है; (८) तमोगुण (Satan) के साथ युद्ध करता है; (९) उसकी इच्छासे समस्त मानव चलते हैं, इत्यादि।

८. Polytheism उभयलिङ्ग, विभिन्नरूपधारी, गुणाव-गुणयुक्त भिन्न-भिन्न देवताओंका अस्तित्व मानता है और वह भी इसी मर्त्य जगत्में। ईसाईधर्मके समान Polytheism स्वर्गलोककी स्थिति इस मृत्युलोकके बाहर किसी स्थानविशेषमें नहीं मानता।

९. प्रसिद्ध जर्मन-पण्डित Max Muller ने इस मतको 'Henotheism' (the Cult of the One in Many and Many in One) कहा है, जो Semetic Monotheism और बैबिलोनिया, मिस्र, यूनान तथा रोममें प्रचलित Polytheism से भिन्न है।

१०. ऋग्वेद ३।५४।१७; १०।८२।३; १।१६४।४६; १०।११४।५; २।१।११; ८।५८।२।

११. ऋग्वेद १०।१२१।

१२. अथर्ववेद ४।१६।८; यजु० ३६।१८; ऋग्वेद ८।५१।९; ८।६५।७; ५।८५।७।

विश्वकल्याणकर्ता (सर्वभूतहिते रतः) बनाता है।

वेदानुसार ईश्वर धर्मस्वरूप है। अतः धर्माचरण करना ईश्वरसेवन करना ही है। आर्योंकी जीवनविषयक कल्पना धर्मसे सम्बद्ध है। धर्म ही पृथ्वीको धारण करता है।[१३] धर्म ही मानवका संरक्षक है और अधर्म उसका भक्षक। सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ—इन धर्मके छः अङ्गोंका पालन करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। धर्म ही श्रेय और प्रेयका एकमात्र साधन है। अतः व्यक्ति और समाजके लिये धर्मपालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

वैदिककालमें सामाजिक ईश-प्रार्थनाकी प्रथा प्रचलित थी। परमात्मा मानवोंका 'अतिथि' है और उसका स्वागत करना मानवमात्रका कर्तव्य है। वैदिक ऋषि 'विश्वा' यानी सभी स्त्री-पुरुषोंको 'समेत' (एकत्र) होकर अर्चन करनेके लिये आदेश देता है; चारों वर्णोंके क्षेम—कल्याणके लिये परमात्मासे प्रार्थना करता है[१४] और सारे विश्वको 'आर्य' बनाना चाहता है। वैदिक आर्य मानवीय जीवनको वास्तविकताकी ही दृष्टिसे देखते थे। उनका विश्वास था कि जीवमात्रके लिये मृत्यु अनिवार्य है, किंतु आत्मा अजर-अमर है और धर्मानुष्ठान आत्मप्राप्तिके लिये अनुपेक्षणीय है। अतः यथा-शक्ति धर्मपालन करते हुए भोग्य पदार्थोंका उचित प्रकारसे उपभोग करके आनन्दपूर्वक जीवन बिताना; विश्वरूपमें प्रकट परमात्माकी विभूति और सौन्दर्यका अधिक-से-अधिक अनुभव करना; व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज, राजा, देश और जीवमात्रके प्रति अपने कर्तव्योंका समुचितरूपसे पालन करना; धैर्य और वीरताके साथ अज्ञान, तमोवृत्ति और संकटके साथ संग्राम करना; मृत्युका भय न करते हुए दीर्घजीवी होनेकी महत्त्वाकाङ्क्षा रखना इत्यादि उनके जीवनादर्श थे।

उपर्युक्त बातोंको ध्यानमें रखकर ही हमें देखना होगा कि वेदोंमें भक्तियोग पाया जाता है या नहीं और यदि पाया जाता है, तो किस रूपमें ?

धार्मिकवृत्ति मानव स्वभावतः षडगुणैश्वर्यसम्पन्न भगवान्‌की सत्ताको मानता है और अपने कल्याणार्थ उसकी आराधना करता है। भागवतमें भागवतोत्तम, मध्यम और प्राकृत—ऐसे त्रिविध भक्तोंका वर्णन है। भगवद्गीतामें सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीन प्रकारके भक्तों एवं भक्तिका वर्णन है। किंतु वेदोंमें इस प्रकारका तात्त्विक या दार्शनिक विवेचन नहीं पाया जाता, वरं उत्कट भक्ति-भावनासे युक्त हृदयकी भावनाओंका काव्यमय व्यक्तीकरण स्तवन-सूक्तोंके रूपमें पाया जाता है।

वेदोंकी ईश्वरविषयक धारणा अत्यन्त व्यापक, उदात्त और मानव-बुद्धिकी भावनाशक्तिकी पराकाष्ठा है। वेद एक विश्वव्यापी, स्वयम्भू, सृष्टिकर्ता, सर्वशक्तिमान्, सनातन, अजरामर, अखिलविभूतिसम्पन्न, सौन्दर्यराशि, आनन्द-स्वरूप सत्तत्त्वके अस्तित्वको मानते हैं और मानवजातिके कल्याणार्थ उसकी नाना प्रकारसे स्तुति करते हैं।[१५] वेदोंके मतसे परमात्मा सर्वशक्तियोंका दाता है; अमृत और मृत्यु उसकी छाया है।[१६] वह सृष्टिका धाता, विधाता, सर्वज्ञ, अनेक-नाम-रूपधारी, एकमात्र अद्वितीय तत्त्व है।[१७] सभी देवतागण एक ही हिरण्यगर्भके विभूतिविशेषके प्रतीक हैं। वे न स्त्रीदेहधारी हैं न पुरुषाकृति; न वे वस्त्राभूषणायुधधारी सगुण-साकार मूर्तियाँ ही हैं। अतः वेदोंमें उस प्रकारकी सगुण-भक्तिका उल्लेख या विवेचन मिलना बहुत कठिन है, जैसा कि पौराणिक तथा तदुत्तरकालीन भक्ति-साहित्यमें पाया जाता है। वेदोंमें परमात्माकी अपरम्पार विभूतिसे प्रभावित और उत्कट भक्तिभावावेशपूर्ण मानवहृदयका काव्यमय व्यक्तीकरण स्तवनसूक्तोंके रूपमें पाया जाता है।

देखिये ऐसी स्फूर्तिमान् काव्योक्तिका एक सुन्दर उदाहरण—

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत॥

वेदोंके शान्ति-सूक्तोंकी रचना आर्योंकी शान्तिप्रियताका पर्याप्त प्रमाण है।

---

१३. अथर्ववेद १२।१।१७; महाभारत, कर्णपर्व ६९।५९; सामवेद १।४।३।३।

१४. यजुर्वेद १८।४८; ऋ० ९।६३।५; १०।१९१।२–४; ८।६५।७ इत्यादि। ऋग्वेद ६।४७।११ में 'स्वस्ति नः' इत्यादि मन्त्रसे भी यही अर्थ ध्वनित होता है। सामाजिक स्तवनपरक सूक्तोंमें ध्रुवपद (अस्थाई) स्वरूप कुछ शब्दोंकी होनेवाली पुनरुक्ति विशेष प्रभावशाली होती है।

१५. ऋग्वेद १०।१२१।१; अथर्ववेद ४।२।७; यजु० १३।३।

१६. ऋग्वेद १०।१२१।२।

१७. सामवेद १।४।३।३; ऋग्वेद १०।८२।३; ऋग्वेद ३।५४।८।

अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत्।
पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम्॥
(ऋग्वेद ८।६९।८-९)

कितना उदात्त और सहृदय व्यक्तीकरण है प्रेम और श्रद्धाका ! भक्तकी उत्कट भक्तिभावना श्रवणमनोहर काव्य-गीतके रूपमें किस प्रकार प्रकट हो रही है !

भक्त अपने आराध्यको ही अपना पिता, बन्धु, त्राता, माता, धाता, सखा, मर्डिता, अभिख्याता, अविता, वेन, प्रेष्ठ, श्रेष्ठ, अपना सर्वस्व, एकमात्र आधार मानता है और उससे शर्म, वर्म, मूळा, स्वस्ति, प्रशस्ति, ऊति, शम, अवस्, सुमति, वेन आदिकी याचना करता है। इससे पाठक समझ जायँगे कि वैदिक ऋषि केवल धन, पशु, पुत्रादिकी ही याचना नहीं करते, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। वे सात्त्विक और दिव्य वस्तुओंकी भी याचना करते हैं। जो भक्त-कवि प्रजापतिको जगदुत्पत्तिकर्ता और जगत्स्थितिकर्ता,[१८] एकमात्र विश्वव्यापी सत्तत्त्वके रूपमें देखता है, वह निर्गुण भक्तिके दिव्य मन्दिरका सम्मान्य पुजारी ही कहा जायगा। 'उशते' शब्द प्रेमका निदर्शक है।

परमात्मा शुचिव्रततम है। अतएव भक्त उसकी 'शुद्धेन साम्ना' प्रार्थना करता है[१९]। देखिये भक्त-कविका शुद्ध सात्त्विक मनोभाव !

परमात्मा प्रेमस्वरूप, सत्तत्त्व, गुहानिहित और चराचरका एकमात्र 'नीड' है और सारे विश्वमें ओत-प्रोत (भरा हुआ) है। यजुर्वेदकी निम्नोक्ति संसारके किसी भी तत्त्वविद्की भगवत्स्वरूपसम्बन्धी उक्तिसे श्रेष्ठतर ही होगी—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ
स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥
(यजु० ३२।८)

यह मन्त्र स्वयं ही निम्नाङ्कित गहन तत्त्वोंका एक नीड है—

(१) सारे विश्वमें एक सत्तत्त्व ओत-प्रोत है।
(२) वह तत्त्व गुहानिहित है।
(३) वह प्रेमस्वरूप है।
(४) उसीमें सारा विश्व अवस्थित है।
(५) प्रेम ही जीवमात्रको एकत्र या संयुक्त करनेवाली दिव्य शक्ति है।
(६) उसी सत्तत्त्वसे विश्वकी उत्पत्ति होती है।
(७) उसी सत्तत्त्वमें सारा विश्व विलीन हो जाता है।
(८) वह विश्वका स्वामी (प्रजापति) है।

पाश्चात्य और आर्य तत्त्वविदोंमें भगवद्दर्शनके सम्बन्धमें जो प्रभेद है, उसका यहाँपर निर्देश करना आवश्यक है। पाश्चात्त्य तत्त्वविदोंकी दौड़ वहींतक जाती है जहाँतक कि मानव-बुद्धिकी पहुँच है। इम्मैनुएल कैंट-जैसा दार्शनिक भी परमात्माको 'बुद्धेः परः' अतएव 'अज्ञेय' कहकर स्तब्ध हो जाता है। एक आर्य तत्त्वज्ञ ही डंकेकी चोट कह सकता है कि अतीन्द्रिय परमात्माकी भी अनुभूति विशुद्ध मानव-हृदयको हो सकती है। वैदिक ऋषि कहता है—**'अपश्यं गोपाम्'** (ऋ० १। १६४। ३१); **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'** (यजु० वा० ३१। १८); **'तं पाकेन मनसापश्यमन्तितः'** (ऋ० १०। ११४। ४)। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, भागवतमें विशुद्ध मानव-हृदयको 'वसुदेव' कहा गया है। वही भगवान् वासुदेवका निवासस्थान है और जब वह पूर्णतया विशुद्ध हो जाता है, तब उसीमें भक्तको भगवान् वासुदेवका दर्शन होता है। भगवद्गीतामें भी यही भाव प्रदर्शित किया गया है। भगवद्भक्ति कदापि व्यर्थ नहीं होती।[२०]

भगवद्भक्ति ही मानव-हृदयको पुनीत करती है और भगवत्सत्ता तथा भगवत्स्वरूपकी अनुभूति कराती है; भूतमात्रमें परमात्माकी प्रतीति कराती है और भक्तको भागवतोत्तम बना देती है।

कालान्तरसे उपनिषत्कालमें इस परमतत्त्वकी 'उपासना' पर विशेष जोर दिया गया और अद्वैतवेदान्तवादियोंने इसे अपरोक्षानुभूतिगम्य कहा है।

भगवान् प्रेमस्वरूप हैं; प्रेमसूत्रमें ही जीवमात्र मणिगणोंके समान ग्रथित होते हैं। प्रेमस्वरूप परमात्मा ही इस सूत्र-बद्धताकी आधार-भूमि हैं। अतः जीवमात्रपर दया और प्रेम करना ही परमात्माकी सेवा करना है।

परमात्मा परम दयालु है। वह नग्नोंको वस्त्र, रुग्णोंको

---

१८. ऋग्वेद १०। १२१।

१९. ऋग्वेद ८। ९५। ७; ८। ४४। २१; ६। ४७। ११ देखिये।

२०. श्रीमद्भागवत ४। ३। २३; श्रीमद्भगवद्गीता ७। २३; ९। ३१।

भेषज, अन्धोंको दृष्टि और पङ्गुको चलन-सामर्थ्य प्रदान करता है।[२१] अतः नग्न, पङ्गु, रुग्ण एवं अन्ध—जैसे असहायोंकी अभावपूर्ति करनेसे परमात्मा संतुष्ट होता है और यही मानवोंका परम धर्म है। आचारधर्म भक्तियोगका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

वेदोंके मतानुसार मानव जन्मतः ईश्वरांश है, **'अमृतस्य पुत्राः'** हैं।[२२] अपनी ईशिता पहचानना और ईशसत्ताका सर्वत्र अनुभव करना ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। इस दृष्टिसे ईशसृष्टिमें मनुष्यका स्थान जैसे सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार उसका दायित्व भी गुरुतम है।

परमात्मा जैसे आनन्दरूप है, वैसे ही जीव भी है।[२३] सुतरां जीव आनन्दके लिये सदा लालायित रहता है। भक्त-प्रवर विशुद्ध शाश्वत आनन्दके लिये भगवान्‌से याचना करता है। भक्तराज आनन्दस्वरूप परमात्माका अर्चन उसी विशुद्ध आनन्दभावसे करता है, जो परमानन्दका ही अंशभूत एवं उसकी प्राप्तिका साधन है। वैदिक कविके मनमें जब निर्मल आनन्दकी ऊर्मियाँ उमड़ने लगती हैं, तब उसी शुद्ध स्निग्ध सुरभि आनन्द-प्रसूनसे वह अपने आनन्दकन्दका अर्चन करता है और उसके सांनिध्यका अनुभव करता है। साधना पूर्ण होनेपर भक्तराज इस स्वानन्द-साम्राज्यका अधिपति हो जाता है। प्रायः सभी हिंदू दार्शनिकोंने इस आनन्दभावको विशेष महत्त्व दिया है।

परमात्मा ही भक्तका एकमात्र त्राता और रक्षक होता है। अतः भक्त उससे स्वस्तिकी याचना करता है।[२४]

संसारताप-संतप्त भक्तके लिये परमात्मा मरुभूमिस्थ शीतल 'सरि' (फव्वारे) के समान सुखदायी होता है। अतः भक्त उसकी अनुकम्पाके लिये प्रार्थना करता है।[२५]

जगत्पिता मानवमात्रपर वात्सल्य-भाव रखता है। फिर भक्त अपने परमपितासे और 'प्रियतमा' मातासे 'शर्म' के लिये याचना न करे तो और किससे करे ?

उसी प्रकार, जैसे विपद्ग्रस्त पुत्र अपने पितासे अपनी रक्षाके लिये प्रार्थना करता है, वैसे ही दुखी मानव अपने दुःखपरिहारार्थ दीनवत्सल विश्वपितासे 'मूळा' की याचना करता है।[२६]

वैदिक कवि समय-समयपर प्रेम और वात्सल्यभावका अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन करके अपने शुद्ध और कोमल हृदयका परिचय देता है। सरलस्वभाव सात्त्विक प्रेमकी प्रतिमा अज्ञ बालक कभी अपने पिताके वस्त्रको प्रेमसे पकड़ लेता है[२७], तो कभी अपनी माता (सरस्वती) के स्तनपानके लिये आतुर होता है।[२८] उषाका स्तवन करते हुए भक्त कहता है—'स्याम मातुर्न सूनवः' (ऋग्वेद ७ । ८१ । ४)।

इसी वात्सल्यभावका एक और सुन्दर चित्र देखिये। भगवान् अपने भक्तके पवित्र प्रेम-पीयूषसे ही पोषण प्राप्त करते हैं। मातृरूप भक्तके हृदयसे प्रवाहित होनेवाले पुष्टि-कर प्रेम-पयसे ही (आराध्य) शिशुका, बालमुकुन्दका, भरण-पोषण होता है। वात्सल्यभावोद्रेकयुक्त माता (भक्त) और उसके 'शिशु' (भगवान्) के परस्पर चुम्बनका कवि कितना हृदयग्राही वर्णन करता है ![२९] उसी 'वेन'का 'विप्र' (प्रेमी भक्त) प्रीतिसे चुम्बन करता है[३०], और उसी 'शिशु'को स्तवन अपना विषय बनाते हैं[३१]।

आगे चलकर प्रेमके द्वारा भगवदर्चन करनेकी यह कल्पना भक्ति-काव्यमें वात्सल्य-रसका अत्यन्त सुन्दर और हृदयोन्मादक स्वरूप धारण करती है, जिसका सूर-काव्य अमर स्मारक है।

भारतमें प्रायः सभी हिंदू संत-कवियोंकी भक्ति-भावनाका व्यक्तीकरण काव्यमय भाषामें या गानके रूपमें ही हुआ है। भक्त-हृदयकी प्रेम-भावना उत्कट होते ही पवित्र स्तवन-गीतके रूपमें प्रकट होने लगती है। इसीलिये अपने स्तवन-

---

२१. ऋग्वेद ८ । ७९ । २ ।

२२. ऋग्वेद ८ । ८३ । ८; १० । १३ । १; श्वेताश्वतरोपनिषद् २ । ५; अथर्व० ११ । ८ । ३२ ।

२३. ऋग्वेद ८ । ४३ । ३१ ।

२४. ऋग्वेद १० । ३३ । ३; ६ । ४७ । ११; सामवेद ३३३; यजु० २० । ५०; अथर्व० ७ । ६८ । १ ।

२५. ऋग्वेद १० । ४ । १ ।

२६. ऋग्वेद ७ । ९५ । ५; ८ । ९८ । ११; १० । ३३ । ३ ।

२७. ऋग्वेद ३ । ५३ । २ ।

२८. ऋग्वेद १ । १६४ । ४९ ।

२९. ऋग्वेद १० । ११४ । ४ ।

३०. ऋग्वेद १० । १२३ । १ ।

३१. ऋग्वेद ९ । ८६ । ३१; ९ । ८५ । ११; १० । १२३ । १ ।

गीत स्वीकार करनेके लिये भक्त भगवान्से प्रार्थना करता है।[३२]

भक्तके लिये भगवान्के व्यतिरिक्त कोई भी 'मर्डिता' (सुखदायक) नहीं होता और भगवान्में ही उसकी सारी कामनाएँ पर्यवसित होती हैं।[३३] वैदिक शब्द 'उशिजः' प्रेम और अर्चनका ही द्योतक है।[३४]

अब देखिये भगवान्को एक प्रेमीके रूपमें। ऋग्वेद १।११७।१८; १।६६।४; ९।९६।२३ इत्यादि मन्त्रोंमें 'जार' शब्द 'प्रेमी'के अर्थमें व्यवहृत हुआ है, न कि नीतिभ्रष्ट, परदारगामी या वेश्यारत नीच मनुष्यके अर्थमें। परमात्माको पूर्णपवित्र माननेवाला भक्त उसे भोगलिप्सु, नीतिभ्रष्ट, स्त्रीलम्पट वा कामी कहनेकी धृष्टता या मूर्खता कभी नहीं करेगा। ऋग्वेद १०।३०।५ में 'कल्याणी' शब्द शील, सौजन्य, सरलता और सौन्दर्यका निदर्शक है। (देखिये ऋ० ५।८०।६)।

यही भाव अन्यत्र भी बड़ी मार्मिकतासे व्यक्त किया गया है। कहा गया है कि जिस प्रकार पत्नी अपने पतिको सप्रेम आलिङ्गन देती है, उसी प्रकार भक्तके स्तवन-गीत परमात्माका आलिङ्गन करते हैं।[३५] भगवान्को 'अनवद्या पतिं जुष्टेव नारी' कहकर कविने इस प्रेम-सम्बन्धकी पवित्रता ही ध्वनित की है।[३६]

सच्चे प्रेमकी शक्ति अपार होती है। भक्त प्रेमके ही बलपर भगवान्को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।[३७] ऋग्वेद १।६६।५ में अग्निके विषयमें कवि कहता है—
जायेव योनावरं विश्वस्मै।

परमात्माकी अनन्त विभूति और साध्वी पत्नीकी शील-विभूतिकी तुलना कितनी सार्थक और मार्मिक है।

आगे चलकर भारतीय भक्ति-काव्यमें भक्त-भगवान्का यह पवित्र प्रेम-सम्बन्ध पिता-पुत्र, जननी-शिशु, बन्धु-सखा, पति-पत्नी, प्रिया-प्रियकरके विशुद्ध प्रेम-सम्बन्धका स्वरूप धारण करता है। पूतमना व्रजाङ्गनाओंका निःस्वार्थ श्रीकृष्ण-प्रेम इसी प्रेमकी चरमसीमा है। वर्तमान-जैसे पतित कालमें भी अनेक संसार-ताप-संतप्त मानव इस सुखद भक्ति-काव्यके प्रेम-सलिलमें अवगाहन करके सुख और शान्तिका अनुभव कर रहे हैं।[३८]

भक्तके लिये भगवान् ही 'प्रेष्ठ' और 'श्रेष्ठ' हैं। अतः उनसे भक्त 'वय' (जीवन) की याचना करता है।[३९] 'प्रेष्ठ' और 'श्रेष्ठ' शब्द आदर और प्रेमके सूचक हैं। इसलिये यह कहना अयथार्थ है कि वैदिक आर्योंके मनमें देवताओं या भगवान्के प्रति विशेष प्रेम और आदर नहीं था। वेदोंमें ऐसे अनेक प्रतिमा, सद्गुण या विभूतिके निदर्शक शब्द हैं, जिन्हें 'तम' प्रत्यय लगाकर भगवान या वैदिक देवताओंके गुणवर्णनमें व्यवहृत किया गया है।

अब सख्य-भक्तिका एक उदाहरण देखिये—

माकिर्न एना सख्या वि यौषुस्तव चेन्द्र विमदस्य च ऋषेः।
विद्मा हि ते प्रमतिं देव जामिवदस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि॥[४०]

भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे।[४१]

भक्त अपने सखासे सख्य और सहायताकी याचना करता है। अर्जुनकी सख्य-भक्ति इसी भावका एक सुन्दर उदाहरण है।

कभी-कभी भक्त अपने आराध्यको प्रियतम, अतिथि या मित्र कहकर उसके प्रति अपना परम स्नेह और आदर व्यक्त करता है—**प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।**[४२]

भगवान्को अतिथि कहकर कविने गृहस्थाश्रमधर्मके एक प्रधान अङ्गको सूचित किया है। भगवान् सारे मानव-समाजका सर्वश्रेष्ठ और परम पूज्य अतिथि तथा परम मित्र है। **विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।**[४३]

---

३२. ऋग्वेद १।१०।१२; ८।३५।५।

३३. ऋग्वेद १०।६४।२।

३४. ऋग्वेद ९।८६।३०।

३५ ऋग्वेद १०।४३।१।

३६. ऋग्वेद १।७३।३; १०।३४।५; १।१२३।११।

३७. ऋग्वेद १०।१४९।४।

३८. कहा जाता है कि कबीर आदि हिंदी भक्त कवियोंकी रचनापर सूफी तत्त्वज्ञानका प्रभाव पड़ा है। किंतु ऊपर उद्धृत अवतरणोंसे स्पष्ट होगा कि इस भावनाका बीज सहस्रों वर्ष पूर्वकी वैदिक रचनाओंमें पाया जाता है।

३९. ऋग्वेद १०।१५६।५।

४०. ऋग्वेद १०।२३।७।

४१. ऋग्वेद ८।१३।३।

४२. ऋग्वेद ८।८४।१।

४३. ऋग्वेद ४।१।२०।

कितनी विशाल, व्यापक और उदात्त है यह भावना।

भक्त परमात्मासे 'क्रतु'की याचना वैसे ही करता है जैसे पुत्र अपने विद्वान् पितासे। उसी प्रकार वह 'धी', मेधा, दक्ष, वर्चस् इत्यादि बौद्धिक सम्पदाके लिये भगवान्से प्रार्थना करता है।

परमात्मा 'सविता'[४४] है, और 'प्रसविता'[४५] भी। वैसे ही परमात्मा सौन्दर्यका[४६], 'भद्र'का[४७] और 'सत्य'-का[४८] 'कंद' है। अतः भक्त सत्य, सौन्दर्य और भद्र (Truth, Beauty and Goodness) के लिये सत्-सौन्दर्य-भद्र-निधान परमात्मासे प्रार्थना करता है।

अन्यत्र कविकी स्तवनोक्ति है—**शिवं जिन्वमवसे हूमहे वयम्।**

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, वैदिक आर्य मृत्युको एक अटल सत्य मानते थे। अतः वे जीवनका अधिक-से-अधिक सदुपयोग करके उसे आनन्दपूर्वक शान्तिसे बितानेका सदा यत्न करते थे। इसीलिये वे दीर्घजीवी और समृद्धिशाली होनेकी आकाङ्क्षा रखते थे।[४९] **'प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय'** (ऋग्वेद १०। १८। ३)—नृत्य, हास्य, संगीत भी उनके जीवनके आवश्यक अङ्ग थे और उसे उन्नत बनाते थे। जीवन-संग्राममें जिन-जिन शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियोंकी आवश्यकता होती है, उनकी प्राप्तिके लिये स्थान-स्थानपर प्रार्थनाएँ की गयी हैं—जैसे **'चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे'**, **'वात आ वातु भेषजं'**, **'अजरासस्ते सख्ये स्याम'**, **'बलं धेहि तनूषु नः'**, **'वर्चो मे धेहि'** इत्यादि।[५०] इन शक्तियोंके बिना 'वृत्र' वा 'दस्यु' पर विजय प्राप्त करना असम्भव है। अतः इनके लिये यदि भगवान्से प्रार्थना करें तो इसमें क्या दोष है!

आर्योंका विश्वास था कि भगवान् धर्मरूप है और धर्मरक्षामें सदैव सहायकारी होता है।

'भगवत्कृपा होनेपर भक्त पूर्णतया निर्भय हो जाता है, उसकी सारी संकुचितताएँ नष्ट हो जाती हैं और उसमें एक अद्भुत प्रकारका आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है।'[५१]

ऐसे लोगोंके लिये यह स्वाभाविक ही था कि वे कर्मयोगके समर्थक हों और निद्रा, तन्द्रा, प्रमाद-जैसे दुर्गुणोंसे घृणा करें।[५२] आर्योंके इस मतके साथ भगवद्गीतोक्त कर्मयोगके विवेचनकी तुलना करनेपर इन दोनोंमें विचित्र साम्य दिखायी देता है।

वैदिक आर्य 'क्रतु' और 'ऋत'को अपार मूल्यवान् समझते थे। उनका उपदेश है—

परि चिन्मर्तो द्रविणं ममन्यादृतस्य पथा नमसा विवासेत्। उत स्वेन क्रतुना सं वदेत श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात्।[५३]

उनकी स्पष्टोक्ति है—

'स्वस्ति पन्थामनुचरेम'[५४]; **'ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति'**[५५]; **'इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम-पघ्नन्तो अराव्णः'**[५६]; **'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'**[५७]; **'शर्म वर्म ममान्तरम्'**; **'प्रियः सुकृत् प्रिय इन्द्रे मनायुः प्रियः सुप्रावीः प्रियो अस्य सोमी'**[५८]—इत्यादि।

स्मरण रहे कि ये प्रार्थनाएँ अधिकांश मानव-समाजके कल्याणके लिये सामुदायिक या सामूहिक स्वरूपकी हैं, न कि क्षुद्र व्यक्तिस्वार्थप्रेरित (यजु० वा० १८। ४८)।

आर्योंकी परोपकारकी भावना भी अत्यन्त व्यापक थी। देखिये परोपकारकी चरम सीमा—

---

४४. ऋग्वेद ५। ८२। ७।

४५. ऋग्वेद ४। ५३। ६।

४६. ऋग्वेद ५। ८२। ६; २। १३। ७।

४७. ऋग्वेद ५। ८२। ५; १। १२३। १३; १। ८९। २।

४८. ऋग्वेद ५। ८२। ७।

४९. अथर्ववेद १९। ६०; १९। ६७; ऋग्वेद ७। ६६। १६; १। ७१। १०; १०। १८६। १।

५०. ऋग्वेद १०। ५३। ८; यजु० (वा०) ३५। १०; १९। ९; अथर्व० १२। २। २६।

५१. ऋग्वेद १। ११। २।

५२. ऋग्वेद ८। ४८। १४; ६। २। १८; ४। ३३। ११; भगवद्गीता ५। ७; ईशोपनिषत्—यजु० वा० ४०। १-२।

५३. ऋग्वेद १०। ३१। २।

५४. ऋग्वेद ५। ५१। १५; १। ९०। ६–८।

५५. ऋग्वेद ४। २३। ९।

५६. ऋग्वेद ९। ६३। ५।

५७. ऋग्वेद ६। ७५। १९।

५८. ऋग्वेद ४। २५। ५।

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत् ।[५९]

भगवान् मानवोंका सर्वश्रेष्ठ और पूज्यतम अतिथि है। वह सर्वगुहाशयस्थ—भूतमात्रमें अवस्थित है। अतः गृहस्थोंके लिये सभी प्राणी अतिथिस्वरूप हैं और उनकी यथाशक्ति सेवा करना गृहस्थका परमकर्तव्य है। वेदोंने स्पष्ट कह दिया है—'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋ० १०।११७।६)। भगवद्गीता भी इसी भावको इसी प्रकार व्यक्त करती है।

भगवच्छक्ति (सरस्वती) 'धियो विश्वा वि राजति'[६०]। अतः भक्तकी प्रार्थना है—'शं सरस्वतीसह धीभिरस्तु'।[६१] अन्यत्र 'सरस्वती'को 'पावका'[६२], 'चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां'[६३], 'अम्बितमा देवितमा'[६४] इत्यादि कहकर भक्त सुमति और प्रशस्तिकी याचना करता है।

सर्वैश्वर्यसम्पन्न भगवान् अपने भक्तोंके मनोवाञ्छित पूर्ण करता है।[६५] अतः भक्त अपनी कामनापूर्तिके लिये भगवान्की प्रार्थना करता है।

सीमितशक्ति मानव, देवकृत, मनुष्यकृत, पितृकृत और तो क्या, आत्मकृत भी, नाना प्रकारके ज्ञात और अज्ञात पापकर्म कर बैठता है; किंतु परमात्मा अपने शरणागतोंके समस्त पाप भस्म कर देते हैं। अतः आर्य ऋषि अपने पापक्षयार्थ भगवान्की प्रार्थना करता है—

'मा न एकस्मिन्नागसि मा द्वयोरुत त्रिषु ।
वधीर्मा शूर भूरिषु[६६] ॥

स्वयं भगवान्के अभय-वचन हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[६७]

अब वेदोंमें गीतोक्त आत्मसमर्पणयोगकी झलक देखिये—

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि ष्मसि ।
नहि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ॥[६८]

क्या भक्तकी अनन्यशरणागति और आत्मसमर्पणबुद्धिका व्यक्तीकरण और अधिक सुन्दर रीतिसे हो सकता है?

अब देखिये आराध्यके प्रति भक्तकी आत्मीय भावना—

त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः ।
त्वमस्माकं तव स्मसि ।[६९]

कितना विश्वास और भरोसा है भगवान्पर ! भक्त और भगवान्के ऐकात्म्यकी चरमावधि ! दोनोंका वह दिव्य और अटूट स्नेहबन्धन ! भक्तियोगकी परिसमाप्ति 'त्वमस्माकं तव स्मसि' के अतिरिक्त और किसमें हो सकती है? भक्त भगवान्का है, और भगवान् भक्तका। जलबिन्दुके अथाह जलधिकी अपार जलराशिमें विलीन हो जानेपर द्वैत, भ्रम, मोह, अज्ञान, दुःख आदि सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं। ऐसे ही 'भागवतोत्तम' के निर्मल हृदयाकाशसे अन्तर्ध्वनि गूँज उठती है—'त्वमस्माकं तव स्मसि'—प्रभो ! तुम ही मेरे सर्वस्व और मैं सर्वथा तुम्हारा !

अलौकिक भक्त और भगवान्की प्रेमलीला भी अलौकिक ही होती है। ऐसे भक्तका भगवान्पर रुष्ट होनेतकका अधिकार होता है, जैसा कि पिताके परम प्रिय पुत्रका अपने पुत्रवत्सल पितापर; किंतु वह रोष करता है केवल निर्मल शुद्ध प्रेमभावसे ही; छलपूर्वक नहीं। जिन गोपाङ्गनाओंने योगीन्द्रदुर्लभ श्रीयशोदानन्दकन्दको निस्सीम अहैतुकी भक्तिके बलसे अपने वश कर लिया था, वे यदि प्रेमातिरेकवश अपने इष्टपर रुष्ट होनेका आनन्दाभिनय प्रदर्शित करें तो क्या आश्चर्य। जिसने भगवान्को अपना सर्वस्व प्रदान कर दिया, क्या वह कभी क्षुद्र स्वार्थके लिये अपने इष्टपर रुष्ट या क्रुद्ध हो सकता है? उसका क्रोधाविर्भाव केवल लीलामात्र होता है। उसमें न काम-क्रोधादिकी तनिक भी दुर्गन्ध होती है, न अहंकार या अभिमानका हलाहल। देखिये इष्टके प्रति प्रेमी भक्तकी धृष्टताका उदाहरण—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥[७०]

यह है सखा भक्तका अधिकार !

५९. ऋग्वेद १०।१३।४।
६०. ऋग्वेद १।३।१२।
६१. ऋग्वेद ७।३५।११।
६२. ऋग्वेद १।३०।१०।
६३. ऋग्वेद १।३।११।
६४. ऋग्वेद २।४१।१६।
६५. ऋग्वेद ८।४५।६।
६६. ऋग्वेद ८।४५।३४; यजु० (वा०) ८।१३।
६७. भगवद्गीता १८।६६
६८. ऋग्वेद ८।६६।१३।
६९. ऋग्वेद ८।९२।३२।
७०. ऋग्वेद ८।४४।२३।

क्या कोई भी भक्त ऐसे 'शतमघ' (अनन्त धनराशिके स्वामी) को कितनी भी बड़ी द्रव्यराशिके बदलेमें त्याग सकता है ? कदापि नहीं । उसे तो इष्ट प्राणात्प्रिय होता है । संसारकी किसी भी मूल्यवान् वस्तुसे उसकी तुलना कदापि नहीं हो सकती । भक्तकी स्पष्टोक्ति है—

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥[७१]

ऊपर उद्धृत किये हुए अवतरणोंके अतिरिक्त इस लेखके विषयसे सम्बद्ध और अनेक मन्त्र हैं, जो आर्योंकी भक्ति-विषयक भावनापर प्रकाश डालते हैं; किंतु स्थानाभावके कारण उन सबका विचार करना सम्भव नहीं । परंतु उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जायगा कि वेदोंमें भगवद्भक्ति-परक स्तवन सूक्तोंकी संख्या पर्याप्त है । उनमें कई मन्त्र सात्त्विक भक्तिके निदर्शक हैं और कई सूक्त राजस भक्तिके । इनके अतिरिक्त ऋग्वेदमें ऐसे भी सूक्त हैं, जो कुछ लोगोंके मतानुसार तामसभक्तिमूलक हैं । इन्हें आप्रीसूक्त कहते हैं, जिनका पशुयज्ञमें एक विशिष्ट प्रकारका उपयोग किया जाता था । क्षणभरके लिये इन्हें यदि तामसवृत्तिमूलक माना भी जाय तो इनकी संख्या इतनी अल्प है कि कविकुलशिरोमणि कालिदासके अमर शब्दोंमें यही कहना उचित होगा कि—

एको हि दोषो गुणसंनिपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।

ओल्डनबर्गने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है कि 'सामान्यतः वैदिक काव्यरचना सौन्दर्यप्रपूरित नहीं है । आर्यलोग केवल जातीय हित और वैयक्तिक स्वार्थकी बात ही जानते थे और इसी दृष्टिसे उन्होंने इन सूक्तोंकी रचना की है;' किंतु विंटरनीज़ने इस मतका उचित प्रतिपादन किया है ।

ऊपर उद्धृत किये हुए अवतरणोंके व्यक्तिरिक्त वेदोंमें ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा भगवद्विभूति-विषयक ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनकी गणना उत्कृष्ट काव्यमें सहज ही की जा सकती है; किंतु इस लेखके विषयसे उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होनेके कारण इसमें उनका विचार नहीं किया गया।

उपर्युक्त विवेचनसे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि उपनिषद्-कालमें और तत्पश्चात् जो दार्शनिक, धार्मिक या भक्तिविषयक साहित्य निर्माण हुआ, उसमें जिन अनुपम सिद्धान्तों या प्रमेयोंका विवेचन किया गया है और भक्ति-काव्यमें सगुण-भक्ति-विषयक जिन भावग्राही भावनाओंकी सौन्दर्यपूर्ण व्यञ्जना हुई है, उन सिद्धान्तों और भावनाओंके बीज सहस्रों वर्षों पूर्व निर्मित वैदिक साहित्यमें अवस्थित हैं, यद्यपि उनका व्यक्तीकरण एक विशेष प्रकारकी काव्यमय भाषामें विवक्षित पद्धतिसे (Symbolically) हुआ है ।

कालान्तरसे इन सिद्धान्त-बीजोंने श्रेष्ठ सनातनधर्म-तत्त्वोंके सुविशाल न्यग्रोध-तरुओंका स्वरूप धारण किया, जिनकी सघन सुशीतल छायामें विश्राम करके आज भी अगणित आस्तिक मानव सुख और शान्तिका अनुभव कर रहे हैं । करुणामूर्ति दीनवत्सल प्रभुसे हमारी विनीत प्रार्थना है कि वे अपने कृपामृतसे इन तरुवरोंको सुदृढ़ और समृद्ध बनाते रहें और उनके पुनीत आश्रयसे हम सब विहित कर्म करते हुए पूरे सौ वर्ष जीयें और हमें सब ओरसे श्रेष्ठ फलवाले यज्ञ करनेका अवसर प्राप्त होता रहे—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः ।
(ऋ० १ । ८९ । १)

—को आचरित करें ।

शिवद्रोही रामभक्ति नहीं पा सकता

भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सिव द्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा ॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ़ मति थोरी ॥
संकरप्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास ॥

(रामचरित० लङ्का०)

---

७१. ऋग्वेद ८ । १ । ५ ।

अवतार और अधिकारी महापुरुषोंका अलौकिक प्रभाव

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

(गीता ४ । ७)

भगवान् कहते हैं—'हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ ।'

इसपर कितने ही भाई हमसे पूछा करते हैं कि 'जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् यदि अवतार लेते हैं तो इस समय तो धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि विशेषरूपसे हो रही है, फिर भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते ? क्योंकि इस समय धर्म-पालन करनेवाले लोग संसारमें बहुत ही कम हैं; यदि कहीं कोई धर्म-पालन करता है तो वह आंशिकरूपसे ही करता है एवं यज्ञ, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, दुखी प्राणियोंकी सेवा, बड़ोंका आदर-सत्कार, शौचाचार-सदाचारका पालन आदि तो बहुत ही कम देखनेमें आते हैं और जो देखनेमें आते हैं, उनमें भी सूक्ष्मतासे विचार करके देखनेपर कहीं-कहीं तो शौचाचार-सदाचाररूप, धर्मके नामपर दम्भ ही दृष्टिगोचर होता है। यह तो धर्म-हानिकी बात हुई। इसके सिवा, दूसरी ओर पापाचारकी विशेषरूपसे वृद्धि हो रही है। चोरी, झूठ, कपट, बेईमानी, घूसखोरी आदि दिन-पर-दिन बढ़ रहे हैं। चोर-बाजारी करना, इनकम टैक्स और सेल्स टैक्सकी चोरी करना, झूठे बहीखाते बनाना तो मामूली-सी बात हो रही है; इन सबको तो बहुत-से लोग पाप ही नहीं समझते। अंडे और मांस खाने तथा मदिरा पीनेसे शास्त्रोंमें बड़ा भारी पाप माना गया है; किंतु इनको भी बहुत-से लोग व्यवहारमें लाने लगे हैं। कोई औषधके नामपर, कोई होटलमें जाकर और कोई भोग-कामनाकी पूर्तिके लिये इनको व्यवहारमें लाने लगे हैं और उसमें पाप भी नहीं समझते। कई एक पुरुष तो परस्त्रीगमनको भी पाप नहीं मानते। उनमें कितने ही तो छिपकर और कितने ही प्रकटरूपमें यह दुराचार करते हैं। बहुत-से लोग सट्टा-फाटका और जुआ खेलते हैं, जिनके सम्बन्धमें शास्त्रकी घोषणा है कि ये देश और राष्ट्रके लिये महान् हानिकारक हैं। मांस और चमड़ेके लिये गौओंकी हिंसा बहुत अधिक मात्रामें हो रही है; क्योंकि चमड़ा और सूखा मांस विदेशोंमें अत्यधिक परिमाणमें भेजा जाता है। मच्छर, खटमल और टिड्डी आदि क्षुद्र प्राणियोंकी हिंसाको तो बहुत-से लोग हिंसा ही नहीं समझते। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् क्यों नहीं अवतार लेते ?'

इसके उत्तरमें हम यही कहते हैं कि भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते—इसे तो भगवान् ही जानें; इसका निर्णय करनेकी सामर्थ्य हममें नहीं है। फिर भी विचार करनेसे यह अनुमान होता है कि जब युगधर्मके अनुसार अधिक मात्रामें पाप बढ़ जाता है, तभी भगवान् अवतार लिया करते हैं। सत्ययुगमें धर्मके चार चरण रहते हैं, त्रेतायुगमें तीन, द्वापरयुगमें दो और कलियुगमें एक ही चरण रह जाता है (महा० वन० अ० १४९)। जब सत्ययुगमें धर्मका ह्रास होने लगा, तब भगवान्ने श्रीनृसिंह आदि रूपोंमें प्रकट हो हिरण्यकशिपु आदि दुष्टोंका संहार करके धर्मकी स्थापना की। त्रेतायुगके अन्तमें जब राक्षसोंने ऋषि-मुनियोंको मारकर उनकी हड्डियोंका ढेर लगा दिया, तब भगवान्ने श्रीराम-रूपमें प्रकट हो खर-दूषण, त्रिशिरा, कुम्भकर्ण, मेघनाद, रावण आदि राक्षसोंमेंसे, किसीका स्वयं वध करके और किसी-का दूसरेके द्वारा वध करवाकर धर्मकी स्थापना की, जिसके कारण आज भी संसारमें 'रामराज्य'की महिमा गायी जाती है। द्वापरयुगके अन्तमें जब दुष्टोंके द्वारा घोर अत्याचार होने लगा, तब भगवान्ने श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हो पूतना, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, अरिष्टासुर, कंस, जरासंध, कालयवन, शिशुपाल, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, जयद्रथ आदि दुष्टोंमेंसे, किन्हींका स्वयं संहार करके और किन्हींका दूसरोंके द्वारा संहार करवाकर तथा महाराज युधिष्ठिरको राज्य दिलाकर धर्मकी स्थापना की।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि जब-जब युगधर्मके लक्षणोंकी अपेक्षा पाप अधिक बढ़ जाता है, तब भगवान् प्रायः युगके अन्तमें अवतार लेते हैं। जब सत्ययुगमें धर्म-पालनके चार चरणोंमें कमी आयी, त्रेतामें उसके तीन चरणोंमें कमी आ गयी और द्वापरयुगमें दो चरणोंमें भी कमी आ गयी, तब भगवान्को अवतार लेना पड़ा। अब कलियुगमें धर्मका एक ही चरण रह गया है,

इसका भी जब बिल्कुल ह्रास हो जायगा, तब कलियुगके अन्तमें भगवान् कल्किरूपमें अवतार लेंगे—ऐसी बात श्रीमद्भागवतमें कही गयी है (देखिये स्कन्ध १२, अध्याय २; श्लोक १८)।

घोर कलियुगका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें लिखा है—

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

'कलियुगमें न वर्णधर्म रहता है, न चारों आश्रम रहते हैं। सभी स्त्री-पुरुष वेदके विरोधमें लगे रहते हैं। ब्राह्मण वेदोंको बेचनेवाले और राजा प्रजाका शोषण करनेवाले होते हैं। वेदकी आज्ञा कोई नहीं मानता। जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पण्डित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको कलियुगमें सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है। जो झूठ बोलता है और हँसी-दिल्लगी करना जानता है, कलियुगमें वही गुणवान् कहा जाता है। जो आचारहीन है और वेदमार्गको छोड़े हुए है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है। जिसके बड़े-बड़े नख और लंबी-लंबी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अमङ्गल वेष और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खाने योग्य और न खानेयोग्य) सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं।'

इस समय भी इस प्रकारके अधर्मका सूत्रपात तो होने लगा है, किंतु अभी धर्मका सर्वथा ह्रास नहीं हुआ है।

आजकल दम्भ और पाखण्ड बढ़ता जा रहा है। दम्भी लोग धर्मके नामपर भोले-भाले नर-नारियोंको अपने चंगुलमें फँसा लेते हैं। कई स्त्रियाँ भी अपनेको ज्ञानी, महात्मा, योगी और ईश्वरकी शक्ति घोषित करती हैं तथा उनके अनुयायी लोग भी कहते हैं कि ये साक्षात् ईश्वरकी शक्ति हैं, ईश्वर इनमें प्रकट हुए हैं, ईश्वरने नारीके रूपमें अवतार लिया है। इस प्रकारका भ्रम फैलाकर वे स्त्रियाँ अपने मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके लिये अपनेको पुजवाती हैं तथा लोगोंकी धन-सम्पत्तिका अपहरण करती हैं। कहीं-कहीं गृहस्थ और संन्यास-आश्रममें स्थित पुरुष भी दम्भ-पाखण्ड करते हैं। कोई तो अपनेको योगिराज कहते हैं, कोई ज्ञानी-महात्मा नामसे अपनेको घोषित करते हैं। कोई-कोई अपनेको अधिकारी (कारक) महापुरुष कहते हैं एवं कोई-कोई तो अपनेको ईश्वरका अवतार कहते हैं। यों कहकर वे अपने फोटो और पैरोंको पुजवाते, अपना नाम जपवाते और अपने उच्छिष्टको महाप्रसादके नामपर वितीर्ण करते हैं। इस प्रकार भोले-भाले पुरुषों और स्त्रियोंको धोखा देकर उनके सतीत्व और धन-सम्पत्तिका अपहरण करते हैं। जब यह दम्भ-पाखण्ड अतिमात्रामें बढ़ जाता है, धर्मका अत्यन्त ह्रास होकर पापोंकी वृद्धि हो जाती है, तब भगवान् अवतार लेते हैं। हमारी समझमें तो अभी अवतार लेनेका समय नहीं आया है, इसलिये कोई दम्भी अपनेको अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुष घोषित करे तो उसके भुलावेमें आकर अपने धर्म और धन-सम्पत्तिका नाश नहीं करना चाहिये।

वास्तवमें ईश्वरके अवतारके स्वरूप, जन्म, उद्देश्य, प्रभाव, गुण, कर्म और स्वभाव दिव्य, अलौकिक और अत्यन्त विलक्षण होते हैं। उनके श्रीविग्रहकी धातु चेतन होती है। उनका शरीर दीखनेमें मनुष्य-जैसा होनेपर भी अतिशय विलक्षण होता है; वह रोग-शोक-मोह और दोषोंसे रहित, अलौकिक एवं दिव्य होता है। उनका जन्म मनुष्योंकी भाँति नहीं होता। गीतामें भगवान्ने बतलाया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

यहाँ 'अजोऽपि सन्' कहकर भगवान्ने यह भाव दिखलाया है कि मैं जन्म लेता-सा प्रतीत होता हूँ, वास्तवमें जन्म नहीं

लेता । श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि माता देवकीके सामने भगवान् चतुर्भुजरूपमें ही प्रकट हुए थे। उनके उस अलौकिक रूपको देखकर माता देवकीने, कंस उन्हें तंग न करे इसलिये, उनसे यह प्रार्थना की—

उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३ । ३०)

'विश्वात्मन् ! आपका यह रूप अलौकिक है । आप शङ्ख, चक्र, गदा और कमलकी शोभासे युक्त अपने इस चतुर्भुज रूपको छिपा लीजिये ।'

तब भगवान्—

पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ।
(श्रीमद्भा० १० । ३ । ४७ का उत्तरार्ध)

'माता-पिताके देखते-देखते अपनी मायासे तत्काल एक साधारण बालक-से हो गये ।'

भगवान्ने वहाँ वसुदेव-देवकीसे कहा कि 'मैंने आपको यह रूप इसलिये दिखलाया है कि आपको मेरे पूर्व अवतारोंका स्मरण हो जाय । यदि मैं ईश्वररूपमें प्रकट न होता तो केवल मनुष्य-शरीरसे मेरे अवतारकी पहचान नहीं हो पाती ।' एवं वहाँ भगवान्ने अपनेको यशोदाके यहाँ पहुँचानेके लिये वसुदेवजीको प्रेरणा भी की । इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्का जन्म नहीं होता । दूसरी बात वहाँ यह भी दिखलायी गयी है कि भगवान्की योगशक्तिके प्रभावसे वसुदेवजीकी हथकड़ी-बेड़ियाँ खुल गयी, दरवाजे और ताले खुल गये, पहरेदारोंको निद्रा आ गयी तथा वसुदेवजीके श्रीकृष्णको लेकर गोकुल जाते समय यमुनाका बढ़ा हुआ जल अत्यन्त कम हो गया, यमुनाने उनके लिये मार्ग दे दिया एवं यशोदाको निद्रा आ गयी । जब वसुदेवजी श्रीकृष्णको यशोदाकी शय्यापर सुलाकर उनके बदलेमें योगमायाको, जो वहाँ कन्याके रूपमें प्रकट हुई थीं, वहाँसे लेकर कारागारमें आ गये तब कारागारके फाटक और ताले अपने-आप बंद हो गये (श्रीमद्भा० १० । ३) । यह सब भगवान्का ही प्रभाव है । ऐसी शक्ति मनुष्योंमें नहीं होती ।

'अव्ययात्मा अपि सन्' कहकर भगवान्ने यह भाव प्रकट किया है कि मेरा विनाश होता-सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें मेरा विनाश नहीं होता; क्योंकि मेरा स्वरूप अक्षय है । भगवान् श्रीकृष्ण जब परम धाममें पधारे, तब उस शरीरसे ही परम धाममें गये । श्रीमद्भागवतमें आया है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥
(११ । ३१ । ६)

'भगवान्का श्रीविग्रह उपासकोंके ध्यान और धारणाका मङ्गलमय आधार और समस्त लोकोंके लिये परम रमणीय आश्रय है । इसलिये उन्होंने (योगियोंके समान) अग्नि-देवता-सम्बन्धी योग-धारणाके द्वारा उसको जलाया नहीं, सशरीर अपने धाममें पधार गये ।'

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायमें देखा जाता है कि अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्ने उनको अपने विश्वरूपका दर्शन कराया और पुनः प्रार्थना करनेपर उसे छिपा लिया । न तो विश्वरूपका जन्म हुआ और न विनाश हुआ, केवल आविर्भाव और तिरोभाव हुआ । अतः जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब प्रकट होते हैं और फिर अन्तर्धान हो जाते हैं ।

इसी प्रकार ध्रुवजीको भगवान्ने चतुर्भुजरूपमें प्रकट होकर दर्शन दिया और फिर अन्तर्हित हो गये (श्रीमद्भा० ४ । ९) ।

ऐसे ही भगवान् श्रीरामावतारमें माता कौसल्याके सम्मुख चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए और फिर सशरीर परम धामको चले गये । श्रीवाल्मीकीय रामायणमें कहा गया है—

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः ।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः ॥
(उत्तर० ११० । १२)

'ब्रह्माजीके वचन सुनकर परम बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने कर्तव्य निश्चय करके भाइयोंके साथ शरीरसहित अपने विष्णुसम्बन्धी तेजमें प्रवेश किया ।'

इसलिये यह समझना चाहिये कि भगवान्का स्वरूप अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता ।

तथा 'भूतानामीश्वरोऽपि सन्' कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके ईश्वर होते हुए भी मनुष्य-से दिखायी पड़ते हैं, किंतु वास्तवमें मनुष्य नहीं हैं । अवतार-कालमें भगवान्ने जगह-जगह अपनी ईश्वरता दिखलायी है । जब ब्रह्माजीको मोह हो गया कि श्रीकृष्ण मनुष्य हैं या ईश्वर, तब वे भगवान्की परीक्षाके लिये उनके बछड़ों और ग्वाल-बालोंको चुराकर ले गये । उस समय उन बछड़ों और गोप-बालकोंके रूपमें स्वयं प्रकट होकर भगवान्ने अनेक रूप धारण कर लिये । फिर ब्रह्माजीका मोह दूर हो जानेपर उन

सब रूपोंका उपसंहार भी कर लिया (श्रीमद्भा० १० । १३) ।

जब अक्रूरजी भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामको मथुरा ले जा रहे थे, उस समय वे यमुनाके ह्रदमें स्नान करने गये तो वहाँ भगवान्ने उनको जलमें भी अपना स्वरूप दिखाया और रथपर भी वैसे ही स्वरूपका दर्शन कराया (श्रीमद्भा० १० । ३९ । ४१—४३) ।

श्रीरामावतारमें भगवान् रामने भी अनेक रूप धारण किया था—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथाजोग मिले सबहि कृपाला ॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी । किए सकल नर नारि बिसोकी ॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना । उमा मरम यह काहुँ न जाना ॥

'उस समय कृपालु श्रीरामजी असंख्य रूपोंमें प्रकट हो गये और सबसे एक ही साथ यथायोग्य मिले । रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीने कृपापूर्ण दृष्टिसे देखकर सब नर-नारियोंको शोकसे रहित कर दिया । भगवान् क्षणमात्रमें सबसे मिल लिये । परंतु हे उमा ! यह रहस्य किसीने नहीं जाना ।'

ये सब कार्य मनुष्यकी शक्तिके बाहर हैं । इनको भगवान् ही कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ।

—इस कथनका यह भाव है कि भगवान् प्रकृतिको अपने अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं । यह भगवान्के जन्मकी विलक्षणता है । हमलोग संसारमें अपने पुण्य-पापोंके अनुसार प्रकृतिके पराधीन होकर जन्म लेते हैं और भगवान् स्वयं प्रकृतिको अधीन करके प्रकट होते हैं । उनके जन्ममें स्वतन्त्रता है और हमलोगोंके जन्ममें परतन्त्रता है । प्रकृति उनके वशमें रहती है और हमलोग प्रकृतिके वशमें रहते हैं । उनका शरीर दिव्य, चिन्मय, अलौकिक, पापों और दुर्गुणोंसे रहित, चिन्ता-शोक-जरा-मृत्यु और रोगसे मुक्त होता है और हमलोगोंके शरीर जड तथा पूर्वोक्त दोषोंसे युक्त होते हैं । उनका प्राकट्य धर्म, ज्ञान, प्रेम, सदाचार, श्रद्धा, भक्तिके प्रचारके द्वारा संसारके उद्धारके उद्देश्यसे होता है; किंतु हमलोगोंका जन्म कर्मफल भोगनेके लिये होता है । अतः उनके और हमलोगोंके जन्ममें अत्यन्त अन्तर है । उनके जन्म, कर्म और उद्देश्य भी अलौकिक होते हैं । कहा भी है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४ । ९)

'हे अर्जुन ! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझे ही प्राप्त होता है ।'

भगवान्के जन्मकी दिव्यता तो ऊपर बतलायी जा चुकी, अब कर्मकी दिव्यता भी बतलायी जाती है । भगवान्के कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान, स्वार्थ, कामना, आसक्ति, ममता आदिका लेश भी नहीं रहता; उनके कर्म सर्वथा शुद्ध और केवल लोगोंका कल्याण करनेके लिये ही होते हैं । इसलिये वे कर्म भी शुद्ध हैं । गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
(४ । १३)

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है । इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान ।'

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥
(गीता ४ । १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता ।'

भगवान्के भी कर्म अनुकरणीय तथा संसारको शिक्षा देनेके लिये ही होते हैं । उनका स्वभाव बहुत ही कोमल और सरल है । वे क्षमा, दया, शान्ति, समता, संतोष, सरलता, ज्ञान, वैराग्य, प्रेम आदि दिव्य गुणोंसे परिपूर्ण हैं । इतने उच्चकोटिके महापुरुष होकर भी अपने भक्तोंका अपने समान अधिकार ही मानते हैं । एक तुच्छ मनुष्य भी यदि अपने-आपको और अपने सर्वस्वको भगवान्के अर्पण कर देता है तो भगवान् अपने आपको और अपने सर्वस्वको उसके अर्पण कर देते हैं । एक तुच्छ प्राणी भगवान्को चाहता है और स्मरण करता

है तो भगवान् भी उसे उसी प्रकार चाहते और स्मरण करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(गीता ४। ११)

'हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।'

यह है भगवान्के कर्मोंकी दिव्यता! जो भगवान्के जन्म और कर्मोंकी दिव्यताको तत्त्वसे जान जाता है, उसका भी कल्याण हो जाता है; फिर उनके आज्ञा-पालन और अनुकरणसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

भला बतलाइये, संसारमें ऐसा कौन मनुष्य है, जो इस प्रकार भगवान्के समान वर्ताव कर सकता है। अपनेको भगवान् मनवानेवाले तो बहुत हैं, पर उनमें भगवान्के लक्षणोंमेंसे एक भी नहीं घटता। अतः सब लोगोंको सचेत हो जाना चाहिये कि जो अपनेको भगवान् मनवाते हैं, उनसे सदा दूर ही रहें।

इसी प्रकार जो अधिकारी (कारक) महापुरुष होते हैं, उनके जन्म-कर्म भी दिव्य—अलौकिक होते हैं। वे जन्मसे पूर्व ही मुक्त हुए रहते हैं, केवल संसारके कल्याणके लिये भगवान्से अधिकार पाकर उनके परम धामसे आते हैं। उनमें दुर्गुण और दुराचारका लेश भी नहीं रहता और उनका शरीर भी अनामय (रोगरहित) होता है। संसारमें जितने भी अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुष हुए हैं, उनमेंसे किसीके कोई बीमारी हुई हो, यह बात ग्रन्थोंमें कहीं नहीं मिलती; क्योंकि बीमारी तो पापोंसे होती है और भगवान् या अधिकारी (कारक) महापुरुष नित्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप होते हैं। वे महापुरुष भगवान्से अधिकार प्राप्त करके संसारके कल्याणके लिये संसारमें आते हैं, इसीलिये उनको अधिकारी पुरुष कहते हैं। उनमें गीताके १२ वें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक बतलाये हुए भक्तोंके लक्षण तो पहलेसे विद्यमान रहते ही हैं। उदाहरणके लिये श्रीवेदव्यासजी अधिकारी (कारक) महापुरुष हुए। उनका अद्भुत प्रभाव था। उन्होंने जन्म लेते ही अपनी इच्छासे शरीरको बढ़ा लिया और स्वतः ही अङ्गों और इतिहासोंके सहित वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया (महा० आदि० ६०। ३)। श्रीवेदव्यासजी जहाँ कहीं भी विशेष आवश्यकता समझते, वहीं बिना बुलाये ही उपस्थित हो जाते थे। उन्होंने महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डवोंको एकचक्रा नगरीमें जानेसे पूर्व भी दर्शन दिया और वहाँ निवास करते हुए जब पाण्डव वहाँसे जानेका विचार करने लगे, तब पुनः दर्शन दिया और द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाया (महा० आदि० १५४, १६८)। इसी प्रकार पाञ्चालनगरीमें राजा द्रुपदके यहाँ प्रकट होकर उनसे भी द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त कहा एवं उसे दिव्य दृष्टि देकर पाण्डवोंको उनके पूर्व शरीरोंसे सम्पन्न वास्तविक रूपमें दिखला दिया (महा० आदि० १९६)।

इतना ही नहीं, आश्रमवासिकपर्वमें तो ऐसा वर्णन मिलता है कि वहाँ राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्तीके सम्मुख श्रीवेदव्यासजी आये और जब गान्धारी और कुन्तीने अपने मृत पुत्रों तथा कुटुम्बियोंको देखनेकी इच्छा प्रकट की, तब श्रीवेदव्यासजीने उस अठारह अक्षौहिणी सेनाको संहारके सोलह वर्ष बाद भी आह्वान करके बुलाया और सबसे यथायोग्य मिलाकर एवं रातभर रखकर प्रातःकाल लौटा दिया। सोलह वर्ष पूर्व मरे हुए उन सब प्राणियोंके रूप, आकृति, अवस्था, वेष, ध्वजा और वाहन—ये सब वैसे-के-वैसे ही थे (महा० आश्रम० ३२)। इसी प्रकार राजा जनमेजयके प्रार्थना करनेपर श्रीवेदव्यासजीने राजा परीक्षित्को उसी रूप और अवस्थामें यज्ञमें बुला दिया (महा० आश्रम० ३५)। यह कितने आश्चर्यकी बात है! क्या कोई मनुष्य इस प्रकार कर सकता है? अपनेको अधिकारी (कारक) महापुरुष मनवाना तो बहुत-से मनुष्य चाहते हैं पर उनके लक्षणोंमेंसे एक भी लक्षण उनमें नहीं घटता। दम्भीलोग अपनेको पुजवानेके लिये अपनेको भगवान् या भगवान्का भेजा हुआ महापुरुष बतलाकर लोगोंको धोखा देते हैं; अतः जो अपनेको अवतार, अधिकारी महापुरुष या ज्ञानी महात्मा कहें, उनके चंगुलमें कभी नहीं फँसना चाहिये, उनसे सदा दूर ही रहना चाहिये; क्योंकि इस समय न तो कोई भगवान्का अवतार है और न कोई अधिकारी (कारक) महापुरुष ही भगवान्का अधिकार पाकर भगवान्के भेजे हुए यहाँ आये हैं। यदि ऐसा होता तो वर्तमानमें जो धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि हो रही है, वह कभी हो नहीं सकती थी; क्योंकि भगवान् और उन अधिकारी

(कारक) महापुरुषोंके तो श्रद्धा-भक्तिपूर्वक दर्शन, भाषण, वार्तालाप, चिन्तन और सत्सङ्गसे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है; फिर उनकी सेवा, आज्ञाका पालन और अनुकरण करनेसे कल्याण हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ।

इस समय तो महाराज युधिष्ठिर-जैसे महात्माओंका भी सम्पर्क दुर्लभ है, जिनके दर्शन और भाषणसे नहुष-जैसे महान् पापी भी पापसे मुक्त हो स्वर्गको चले गये (महा० वन० अ० १८१) । इतना ही नहीं, महाराज युधिष्ठिर बड़े ही प्रभावशाली पुरुष थे । उनमें सत्य, धैर्य, दान, परम शान्ति, अटल क्षमा, लज्जा, श्री, कीर्ति, उत्कृष्ट तेज, दयालुता और सरलता आदि गुण सदा रहते थे । वे जिस देशमें निवास करते थे, उस देशकी प्रजा धार्मिक बन जाती थी । उस देशमें धन, धान्य, गो-वंश, धर्म और सदाचारकी वृद्धि होती थी । महाराज युधिष्ठिरके प्रभावसे उस देशमें समयपर वर्षा होती, खेत हरे-भरे रहते और धर्मका प्रचार होता था । एवं उस देशके लोग दानशील, उदार, विनयी, लज्जाशील, मितभाषी, सत्यपरायण, शुभ कर्म करनेवाले, जितेन्द्रिय, निर्भय, संतुष्ट, पवित्र, हृष्ट-पुष्ट और कार्यकुशल तथा अभिमान, द्वेष और ईर्ष्या आदि विकारोंसे शून्य होते थे । वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, अपने-अपने धर्मके अनुसार, यज्ञ, तप, दान, वेदाध्ययन आदि करते थे । सब अपने धर्मका पालन करते थे (महा० विराट० अ० २८) ।

अपनेको युधिष्ठिरके तुल्य बतलाना तो सहज है, पर उनके समान बनना साधारण बात नहीं है । युधिष्ठिर बहुत उच्च कोटिके धर्मात्मा पुरुष थे । उन्होंने बड़ी-बड़ी आपत्तियोंका सामना किया, किंतु अपने धर्मका त्याग नहीं किया । अतएव हमलोगोंको भी युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा बननेके लिये उनका अनुकरण करना चाहिये ।

जो पुरुष इस संसारमें अपने पुण्य-पापमय कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्य-जन्म लेनेके पश्चात् साधनके द्वारा इसी जन्ममें मुक्ति-लाभ करते हैं, उनमें भी गीताके १२ वें अध्यायके १३ वेंसे १९ वें श्लोकतक कहे हुए भगवत्प्राप्त भक्तके तथा १४ वें अध्यायके २२ वेंसे २५ वें श्लोकतक कहे हुए गुणातीत ज्ञानीके लक्षण आ जाते हैं; किंतु उनके शरीर अनामय नहीं होते और न उनमें अवतार या अधिकारी (कारक) महापुरुषोंकी भाँति जहाँ-कहीं प्रकट हो जाना, मृत व्यक्तियोंको बुलाकर प्रत्यक्ष मिला देना आदि अमानुषिक अलौकिक प्रभाव ही होता है । हाँ, मुक्त हो जानेके अनन्तर उनके कर्म, स्वभाव आदि शुद्ध हो जाते हैं; अतः उनके निष्कामभावसे सङ्ग, वार्तालाप, आज्ञापालन, सेवा और अनुकरणसे मनुष्योंका उद्धार हो सकता है । भगवान्ने गीतामें कहा है—

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
(गीता ४ । ३४)

'अर्जुन ! तू उस ज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ; उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे ।'

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥
(गीता १३ । २५)

'दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार ध्यानयोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगको न जानते हुए भी, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निस्संदेह तर जाते हैं ।'

भगवान्के उपर्युक्त वचनोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको भगवत्प्राप्त भक्तों तथा ज्ञानी महात्माओंके श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग, वार्तालाप, आज्ञापालन, सेवा और अनुकरण आदिसे विशेष लाभ उठाना चाहिये ।

धिक्कार

एक तो दियौ है तोहि मानुसको तन दूजे, उत्तम बरन तीजे उत्तम बरन-देह ।
तेहू पर परम कृपा करि कृपानिधान, कैरा बैरा बौरा गुंग बावरौ करौ न येह ॥
कहत 'किसोर' जोर अच्छर कौ आयौ, भयौ चातुर कहायौ पायौ प्रेम पथ निज गेह ।
धिक तोकौं अधम अभागे कृतहीन जोपै, ऐसे मैं न ऐसे दीनबंधु सौं लगायौ नेह ॥

श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यप्रोक्त प्रेमलक्षणा भक्ति

(लेखक—श्रीगोपालदासजी)

आचार्यचक्रचूडामणि अनन्तश्रीविभूषित भगवन्निम्बार्काचार्यद्वारा प्रणीत 'वेदान्तकामधेनु' अर्थात् 'दशश्लोकी' 'गागरमें सागर'की लोकोक्तिका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। भगवत्-प्राप्तिकी लालसा जगानेके लिये अवश्य-ज्ञातव्य 'अर्थ-पञ्चक'का इसमें बहुत ही सुन्दर, परिमित, असंदिग्ध गम्भीरार्थक शब्दोंमें वर्णन किया गया है। वेदके शिरोभाग (उपनिषदों) को वेदान्त कहते हैं। 'वेदान्तकामधेनु' इस अन्वर्थक नामसे यह सूचित होता है कि 'दशश्लोकी'में ग्रथित समस्त पदार्थ वेदान्तशास्त्र-निर्णीत हैं। 'भक्ति, भक्त, भगवन्त' इनमेंसे भजनीय (उपास्य) पदार्थका सूत्ररूपसे वर्णन श्रीनिम्बार्कभगवान्ने दशश्लोकीमें दो श्लोकोंद्वारा इस प्रकार किया है—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
मशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥ १॥
अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥ २॥

इस श्लोकयुग्मका सरल अर्थ यह है—

"हम श्रीकृष्णका ध्यान करें, जो 'कमलेक्षण' हैं—कमललोचन हैं (अर्थात् असमाभ्यधिक अखिल सौन्दर्य-माधुर्यके निधान हैं, एवं 'कमलेक्षण' शब्दसे सूचित नित्य सच्चिदानन्दविग्रह हैं; स्वरूपतः ही समस्त दोष-गन्धवातसे सदा अस्पृष्ट हैं (अर्थात् सत्त्व-रज-तम—इन प्राकृत गुणोंसे तथा उनके परिणामरूप काम, क्रोध, लोभ, मोह, तन्द्रा, भ्रम, प्रमाद, आलस्य, परिश्रम, खेद आदिसे अस्पृष्ट हैं)। जो स्वरूपतः ही समस्त कल्याण-गुणोंके एकमात्र निधि हैं, जो वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—इस चतुर्मूर्त्तिव्यूहरूप अङ्गोंके अङ्गी हैं तथा अंश-कला-आवेश-विभव-विलासस्वरूप आदि विभिन्न समस्त अवतार-कदम्बके अवतारी हैं (अर्थात् इन सबसे श्रेष्ठ एवं इन सबके सेव्य हैं), जो परात्पर ब्रह्म हैं (अर्थात् जिनमें समस्त वेदादि शास्त्र समन्वित हैं, एवं शास्त्रयोनित्व, निमित्तोपादानोभयप्रकारक जगत्कारणत्व, सर्वेश्वरत्व, स्वाभाविकानन्तशक्तिमत्त्व, मुक्तोपसृप्यत्वादि समस्त ब्रह्मगुणोंके जो आश्रय हैं), जो सर्वशरण्य हैं तथा भक्तके दुरित, संसार-दुःख एवं चित्तके हरणशील (हरि) हैं॥ १॥

"साथ ही उनके वामभागमें मूर्त्तिमत् प्रेमानन्दस्वरूपसे विराजमाना उनकी नित्य अनपायिनी, प्रद्योतमाना देवी 'श्रीवृषभानुजा'का हम निरन्तर स्मरण करें—(अकेले श्रीकृष्णका ध्यान न करें)—जो तत्तत्सेवासामग्री लेकर तत्तत्स्थानमें स्थित नित्य असंख्य सखियोंद्वारा परितः सेवित हैं तथा स्वभक्तोंकी समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाली हैं (अर्थात् जिनकी कृपा बिना सखीभावात्मक श्रीवृन्दावन-निकुञ्ज-परिचर्याका अधिकार प्राप्त होना असम्भव है—यह भावार्थ है) और जो शक्ति, सौन्दर्य, गुण, शील, प्रेम, स्वाधीनपतिकात्व आदि समस्त गुणोंमें सब प्रकारसे श्रीकृष्णके अनुरूप हैं"॥ २॥

इस सूत्ररूप वर्णनसे सम्यक् शास्त्रपरिचित व्यक्ति जान जायँगे कि भगवन्निम्बार्कोपदिष्ट युगलोपासना श्रीनिकुञ्जोपासना है।

किंतु वेदादिशास्त्रप्रमाणित होनेपर ही इस युगलोपासनाका शास्त्रीयत्व माना जा सकता है, अन्यथा इसका अनुपादेयत्व स्पष्ट ही है।

भगवद्भक्तिका मूलस्रोत कहाँसे और कबसे निकला, एतद्विषयक जिज्ञासापूर्तिके लिये वैदिक वाङ्मयकी ओर दौड़ना पड़ता है; क्योंकि वेदोंसे प्राचीनतर और कोई वाङ्मय मानवको उपलब्ध ही नहीं। वेदके ही कथनानुसार, अनादि परमात्मवाक्य एवं परमात्मनिःश्वसित होनेके कारण वेद पुरुषबुद्धिगत भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापटुता आदि दोषोंसे अस्पृष्ट है। उन अनाद्यनन्त नित्य सर्वज्ञ सर्वेश्वरका ज्ञान निःस्वार्थ, निर्भ्रान्त एवं यथार्थ है—अन्यथा उसके सर्वेश्वरत्व-सर्वज्ञत्व-सर्वभूतहितैषित्व-दयामयत्वादि गुणोंमें बाध आ जायगा। जो व्यक्ति वेदोक्त ईश्वरसत्ताको अङ्गीकार नहीं करते तथा चेतन ईश्वरकी प्रेरणा बिना ही आत्मा आदि समस्त पदार्थोंको अचेतन प्रकृति ही जनती है, ऐसा मानते हैं, उनके मतमें असम्भव-दोष आता है। यदि कोई कहे—'उपला नृत्यन्ति' (पत्थर नृत्य करते हैं) तो चेतनकी प्रेरणा बिना जैसे यह

उक्ति असम्भव-दोषसे ग्रस्त है (चेतनकी प्रेरणासे ही पत्थरोंका नाचना सम्भव है); उसी प्रकार सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वेश्वरकी प्रेरणा बिना केवल अचेतन प्रकृतिका क्रियाकारित्व असम्भव है । अतएव आत्म-परमात्मरूप द्विविध चैतन्य प्रकृतिजन्य भी नहीं हो सकता; क्योंकि अचेतन प्रकृतिद्वारा किसी वस्तुका उत्पादन उसमें क्षोभ हुए बिना नहीं हो सकता और चेतन-प्रेरणा-निरपेक्ष अचेतन प्रकृतिमें अपने-आप क्षोभ मानना 'उपला नृत्यन्ति' इस वाक्यकी तरह उन्मत्तप्रलापवत् अर्थशून्य तथा हास्यास्पद है। पवन आदि जड भूतोंका प्रेरक यद्यपि नेत्रसे दीखता नहीं, तथापि उनमें वह व्यापक है। शरीरको चलानेवाला जैसे इन स्थूल नेत्रोंसे नहीं दीखता—किंतु वह उसमें है अवश्य—अन्यथा मृत शरीर भी पूर्ववत् दर्शन-स्पर्शनादि क्रियाकारी होना चाहिये, किंतु नहीं होता—उसी प्रकार वायु आदि जड तत्त्वोंका चलानेवाला चेतन भी उनमें विद्यमान है; क्योंकि कर्तृत्व-ज्ञातृत्वादि चेतनके ही असाधारण धर्म हैं । उक्त हेतुसे बाध्य होकर ईश्वर-सत्ताको अङ्गीकार करना ही पड़ता है, दूसरी गति नहीं । और ईश्वरसत्ताको अङ्गीकार करनेपर तत्स्वरूप गुण-शक्त्यादिका तथा निःश्रेयसका ज्ञापक तन्निःश्वसित वेद भी स्वतःप्रमाण निर्विवाद सिद्ध है ।

निर्विशेष-ब्रह्मवादियोंकी प्रक्रियाके अनुसार तादृश ब्रह्मके सम्पर्कसे भी क्यों न हो, अचेतन त्रिगुण मायामें जगत्कर्तृत्वावश्यक ज्ञातृत्व-कर्तृत्वादि धर्मोंका आना असम्भव है—अन्यथा चेतन मनुष्यके स्पर्शमात्रसे घड़ेमें ज्ञातृत्वादि धर्म आने चाहिये; अग्नितप्त लौहपिण्डके दृष्टान्तसे भी उनकी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती । अग्नितप्त लौहपिण्डमें जो दाहकत्व-धर्म आता है, वह भी लौह-पिण्डका नहीं—उसमें प्रविष्ट अग्निका धर्म है । उसी प्रकार 'निर्विशेष' के मायामें प्रतिबिम्बित होनेकी बात भी, शून्यके प्रतिबिम्बनकी कथाकी भाँति, असम्भव उक्तिमात्र है ।

अतः 'स ऐक्षत' इत्यादि श्रुतिप्रोक्त ईक्षणकर्तृत्वादि धर्म स्वरूपतः स्वाभाविकानन्तशक्तिमान् परब्रह्मके हैं, त्रिगुण माया चेतन यन्त्रीके हाथका यन्त्र है—यही मानना श्रुति-सूत्र-गीताके अविरुद्ध है । अतएव भोक्ता-भोग्य-प्रेरिता—यह त्रिविध भेद अवास्तव नहीं । इसी कारणसे भक्त-भक्ति-भगवन्त—यह त्रिधा परिच्छेद नित्य है ।

अब इस निबन्धके मुख्य विषयका अनुसरण करते हैं ।

'तद्विष्णोः परमं पदम्', 'उरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि', 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।'

'न ते विष्णोर्जायमानो न जातो देवस्य महिम्नः परमं तमाप । सहस्रधा महिमानः सहस्रः ।'

'यज्ञो वै विष्णुः', 'विष्णुः सर्वा देवताः', 'विष्णुर्वै देवानामवमः'

—इत्यादि वेदवाक्योंसे अवगत होता है कि पुरुष-ब्रह्म-सदादिशब्दवाच्य असमाभ्यधिक एक 'विष्णु' ही वेदोंका मुख्य प्रतिपाद्य है—समस्त वेदादिशास्त्र विष्णुपारम्यपरक हैं । वासुदेवपरा वेदाः—यह श्रीभागवतोक्ति भी इसी अर्थको दृढ़ करती है । श्रीगीतावक्ताका भी वचन है—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । महाभारतके उपसंहारमें भी—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते ॥

—यही कहा है । उसीमें यह श्लोक भी मिलता है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि .... ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥

स्मृतिकार भी अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मके अनन्तर उन्हें 'एतत्कर्म विष्णवे समर्प्य' कहकर विष्ण्वर्पण करते हैं तथा—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥

—यों कहकर कर्म-विषयक त्रुटिकी पूर्णताके लिये विष्णुको नमस्कार करते हैं । अक्षरोंमें 'अकार' 'विष्णुवाचक' है—

अक्षराणामकारोऽस्मि । (गीता)

प्रणव (ओंकार) भी विष्णुवाचक है । वेदमाता गायत्री भी विष्णुपरक है । सारांश शास्त्रयोनि एक विष्ण्वाख्य परब्रह्म ही है, यह वेदों एवं तदनुगामिशास्त्रोंका निर्णय है । एवं परब्रह्म-वाचक विष्णु, नारायण, पुरुष, पुरुषोत्तम, हरि आदि शब्दोंके लक्ष्य भी श्रीकृष्ण ही हैं । ये सब परब्रह्मके पर्यायवाचक नाम हैं । जैसे महाप्रमाणभूत महाभारतमें—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

गीतामें—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।

तथा—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् ।

श्रीभागवतमें—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

अर्थात् ये सर्वात्मा श्रीकृष्ण अपनी सत्यसंकल्परूप मायासे अन्यान्य पुरुषोंकी भाँति देहवान्-जैसे प्रतीत होते हैं—वस्तुतः श्रीकृष्णविग्रहमें देह-देहि-विभाग नहीं है । वे ही देही और वे ही देह हैं । इसीलिये इनको सच्चिदानन्द-विग्रह कहते हैं । अवतार-कार्यकी समाप्तिके अनन्तर योगाग्निसे आवृत उनका विग्रह अन्तर्धान हुआ है ।

श्रीगोपालतापिनीमें—

कः परमो देवः, कुतो मृत्युर्बिभेति, कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति, केनेदं संसरति—

इन प्रश्नोंके उत्तरमें ब्रह्माजी सनकादिकोंसे कहते हैं—

कृष्णो ह वै परमं दैवतम्, गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति, गोपीजनवल्लभज्ञानेन तज्ज्ञातं भवति, स्वाहयेदं संसरतीति ।

'तस्मात्कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत् तं रसयेत् तं भजेदित्यों तत् सदिति ।'

महाभारतके अन्तर्गत विष्णुसहस्रनाममें—

जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ।

गीतामें अर्जुन—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः ।

—इत्यादि प्रमाणोंसे विष्ण्वादि शब्दोंके वाच्य एक 'श्रीकृष्ण' ही सर्वसेव्य परात्पर ब्रह्म हैं, यह सिद्ध होता है । तथापि अपनी-अपनी श्रद्धा-रुचिके अनुसार किसी भी भगवद्रूपको (अर्थात् स्वरूपावतारको) भजनेमें किसी प्रकारका शास्त्रविरोध नहीं है ।

गीताका 'मत्तः परतरं नान्यत्' और श्रीभागवतका 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—ये दोनों वाक्य एकार्थक हैं । सभी आस्तिक गीताको सर्वशास्त्रमयी और श्रीभागवतको श्रीकृष्णकी वाङ्मय मूर्ति मानते हैं । इससे 'कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने' यही सिद्ध होता है; अतएव प्रोक्तलक्षण श्रीकृष्णसे परे 'निर्विशेष, निर्धर्मक ब्रह्म' नामकी कोई वस्तु ही नहीं, इस निर्णयको बाध्य होकर मानना पड़ता है ।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।

क्या किसी भी कोशमें 'स्वाभाविकी' पदका कल्पित, अध्यस्त, व्यावहारिक अथवा अपारमार्थिक—यह अर्थ किया गया है ? यदि नहीं तो ब्रह्मकी शक्तियाँ वितथ नहीं । अमरकोशमें 'स्वभाव'का पर्याय 'स्वरूप' बतलाया गया है ।

एवं—

'एष सर्वेश्वरः, एष भूताधिपतिः,' 'स ऐक्षत,' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत', 'सच्च त्यच्चाभवत् यदिदं किंच', 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्', 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः', 'साक्षी चेता,' 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा,' 'स वेत्ति वेद्यम्', 'सर्वकर्मा, सर्वगन्धः सर्वरसः', 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्ण कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥', 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' ।

—इत्यादि श्रुतियाँ, तथा—**'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्', 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च', 'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्', 'विवक्षितगुणोपपत्तेश्च'**

—इत्यादि वेदान्तसूत्र परब्रह्मको स्वरूपसे ही सधर्मक, सविशेष बता रहे हैं । इसलिये उदाहृत श्रुतियोंमें वर्णित स्वाभाविकशक्तिमत्त्व, सर्वज्ञत्व, सर्वसाक्षित्व, अन्तर्यामित्व, सर्वेश्वरत्व, ईक्षितृत्व, जगत्कर्तृत्व, जगदभिन्ननिमित्तोपादान-कारणत्व आदि ब्रह्म-गुण स्वाभाविक मानने पड़ेंगे ।

इसी प्रकार सच्चिदानन्द भगवद्विग्रह, अप्राकृत भगवद्धाम तथा भगवल्लीलापरिकर आदि भी नित्य हैं । इनकी नित्यताके पर्याप्त प्रमाण वैदिक वाङ्मयमें मिलते हैं ।

वेदमें ब्रह्मलोक, विष्णुपद, परमपद, परमव्योम, त्रिपाद्विभूति, ब्रह्मपुर, परमधाम आदि शब्दोंसे अप्राकृत धामका निर्देश किया गया है । जैसे—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । (ऋग्वेद)

योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् । (ऋग्वेद)

त्रिपादस्यामृतं दिवि । (पुरुषसूक्त)

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरि ॥
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।
(पुरुषसूक्त)

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥
(मुण्डकोप०)

अकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि । (छान्दोग्य)

तथा भगवद्विग्रहका जैसे—

तमेतं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुह-तलासीनम् । (गोपालतापिनी)

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
(मुण्डकोप०)

तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् । (मुण्डकोप०)

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः । (बृहदारण्यक)

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रयम् ।
दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम् ॥
कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम् ।
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥
(गोपालतापिनी)

ध्यायेन्मनसि मां नित्यं वेणुश्रृङ्गधरं तु वा ।
(गोपालोत्तरतापिनी)

—इत्यादि प्रमाणोंसे भगवद्विग्रह, धाम, परिकर, लीलादि नित्य हैं, यह सिद्ध होता है और वही भक्तोंका परमप्राप्य है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
'विशते तदनन्तरम्'

—इत्यादिसे इसीका संकेत किया है । इतिहास-पुराण-पञ्चरात्रादिमें तो एतद्विषयक प्रमाण भरे पड़े हैं । विस्तार-भयसे यहाँ केवल कतिपय मौलिक प्रमाणोंका ही उल्लेख किया गया है ।

'स्वभावतो०' इस श्लोकमें श्रीकृष्णके 'अपास्तसमस्तदोष' और 'अशेषकल्याणगुणैकराशि' ये दो विशेषण दिये गये हैं । वहाँ संक्षेपमें दोषोंका निर्देश सरलार्थमें कर दिया गया है । कल्याणगुणोंका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है । ऐश्वर्य-माधुर्य-भेदसे कल्याणगुण दो प्रकारके हैं । उनमें ऐश्वर्यगुण ये हैं—

जगत्कारणत्व, शास्त्रयोनित्व, मोक्षप्रदत्व, सर्वकर्मफल-प्रदत्व, निरस्तसमानातिशय महत्त्व, ईश्वरेश्वरत्व, सर्वव्यापित्व, सर्वनियन्तृत्व, स्वतन्त्रसत्तावत्व, विश्वाधारत्व, अनन्ताचिन्त्य-स्वाभाविकसर्वशक्तिमत्व, ज्ञान-शक्ति-बल-ऐश्वर्य-तेज-वीर्य आदिसे युक्त परिपूर्णतम भगवत्त्व, सर्वशरण्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वसाक्षित्व इत्यादि । माधुर्यगुण (भगवान्में प्रीति उत्पन्न करनेवाले) ये हैं—वात्सल्य, सौशील्य, सौहार्द, सौलभ्य, स्वामित्व, कारुण्य, मार्दव, कृतज्ञत्व, सत्यप्रतिज्ञत्व, भक्त-भक्तिमत्त्व, सेवानपेक्षित्व, आप्तकामत्व, औदार्य, आर्जव, योषित्कमनीयत्व, नित्यकैशोर, हठात् चित्ताकर्षकत्व, सर्वशुभलक्षणत्व, वाक्पटुत्व, अप्रतिमप्रतिभावत्व, असमोर्ध्वसौन्दर्य, सौकुमार्य, कौशल, अखिलसेव्यत्व, उत्तमश्लोकत्व, अक्षोभता, धैर्य, सहायानपेक्षिता, शौर्य, परम स्वातन्त्र्य, विनयशीलता, रसस्वरूपत्व, रसिकत्व इत्यादि । उक्त सभी गुण श्रीकृष्णभगवान्में अनपायी (नित्य) हैं, जो प्रसङ्गानुसार प्रकट होते हैं । श्लोकोक्त 'वरेण्य' शब्द श्रीकृष्णका गायत्रीमन्त्रप्रतिपाद्यत्व सूचित करता है । 'ध्यायेम' शब्दसे भगवत्साक्षात्कारका असाधारण कारण 'निदिध्यासन' विवक्षित है ।

किंतु श्रीकृष्णभगवान्के भी शास्त्रमें दो रूप सुने जाते हैं—द्विभुज और चतुर्भुज । 'स्वभावतो०' इस श्लोकमें श्रीकृष्णका द्विभुजरूपमें ध्यान विवक्षित है अथवा चतुर्भुज रूपमें ? इस शङ्काका समाधान अनन्तर पठित 'अङ्गे तु वामे०' इस श्लोकके 'तु' शब्दसे किया गया है । अर्थात् जिनके वामाङ्गमें वृषभानुजा सदा विराजमान हैं, उन्हीं पूर्वोक्त व्यूहाङ्गी श्रीकृष्णका हम ध्यान करते हैं । 'तु' शब्द यहाँ अन्यान्य भगवत्पत्नियोंका व्यवच्छेदक 'एव' अर्थमें प्रयुक्त जानना चाहिये । अन्यथा 'तु' शब्दका कोई स्वारस्य ही नहीं रहता ।

द्वितीय श्लोकमें 'वृषभानुजा' पदसे श्रीराधाका निर्देश किया गया है । 'मुदा' शब्दसे परमप्रेमानन्दरूप प्रमोद विवक्षित है । इससे उनका स्वाधीनपतिकात्व भी सूचित होता है । पतिका वशवर्त्ती होना ही अर्धाङ्गिनीके परमानन्दका हेतु होता है, यह बात लोकप्रसिद्ध है । 'अनुरूपसौभगाम्' का 'श्रीकृष्णके सर्वथा अनुरूप है सौभाग्य जिनका' यह अर्थ है । सारांश, श्रीकृष्णके तुल्य ही जिनकी 'भगवत्ता' है, वे हैं 'अनुरूपसौभगा'; क्योंकि विशेषतः इस युगल-उपासनामें दोनों स्वरूपोंकी मूल भगवत्स्वरूपता, परस्पराभिन्नता, सर्वांशमें तुल्यता, सच्चिदानन्दविग्रहता, परब्रह्मता शास्त्रमें गायी गयी है । एतद्विषयक कतिपय शास्त्रीय प्रमाणोंका नीचे उल्लेख किया जाता है ।

प्रथम श्रीराधा-कृष्ण नामका वेदसंहितामें उल्लेख होनेके उदाहरण दिये जाते हैं—

कृष्णं त एम रुशतः पुरो
भाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम् ।

यदप्रवीता दधते ह गर्भ
स्वद्यश्चिज्जातो भवसीदु दूतः ॥
(ऋ० ४ । ७ । ९)

इस मन्त्रमें श्रीकृष्णभगवान्‌का देवकी माताके गर्भसे प्रकट होना वर्णित है।

अयं वां कृष्णो अश्विना हवते वाजिनीवसू । मध्वः सोमस्य पीतये ॥

शृणुतं जरितुर्हवं कृष्णस्य स्तुवतो नराः । मध्वः सोमस्य पीतये ॥
(ऋक्-सं० ८ । ८५ । ३)

इदं ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते । पिबा त्वस्य गिर्वणः ॥
(ऋक्-सं० ३ । ५१ । १०)

स्तोत्रं राधानां पते गीर्वाहो वीर यस्य ते । विभूतिरस्तु सूनृता ॥
(सामसंहिता २ । २ । ८ । १)

दोनोंकी परस्पर अभिन्नता (एकता) के प्रमाण—

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः ।.........सहैतावानास । यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् । ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् ॥
(बृ० उप० पुरुषविधब्राह्मण)

यहाँ 'पुरुषविध' का अर्थ द्विभुज नराकृति है।

अनाद्योऽयं पुरुष एक एवास्ति । तदेवं द्विधारूपं विधाय सर्वान् रसान् समाहरति । स्वयमेव नायिकारूपं विधाय समाराधनतत्परोऽभूत् । तस्मात्तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति । तस्मादानन्दमयोऽयं लोकः ॥
(शतपथ ब्राह्मण, साम-रहस्य-श्रुति)

आत्मानं द्विधाऽकरोदर्द्धेन स्त्री अर्द्धेन पुरुषः ।
(सुबालोपनिषद्)

अर्द्धमु हैतदात्मनो यन्मिथुनं यदा वै सह मिथुनेनाथ सर्वोऽथ कृत्स्नः ।

.........'दैवम् ह्येतन्मिथुनं परमो ह्येष आनन्दः ।
(शतपथ, अग्निरहस्यकाण्ड, मण्डलब्राह्मण)

राधा भजति तं कृष्णं स च तां च परस्परम् ।
उभयोः सर्वसाम्यं च सदा सन्तो वदन्ति हि ॥
(ब्रह्मवै० पु० प्रकृतिख० श्रीराधोपाख्यान)

'श्रीकृष्णवपुषोऽर्द्धस्य सा हि मूर्त्तिमती सती ।
एका मूर्त्तिर्द्विधा भिन्नाभेदो वेदे निरूपितः ॥
इयं स्त्री स पुमान् किं वा स वा कान्ता पुमानियम्।
द्वे रूपे तेजसा तुल्ये रूपेण च गुणेन च ।
पराक्रमेण बुद्ध्या वा ज्ञानेन सम्पदादिना ।
सास्य प्राणैर्विरचिता तत्प्राणैर्मूर्त्तिमानयम् ॥'
'त्वं स्त्री पुमानहं राधे इति वेदेषु निर्णयः ।
यदा तेजःस्वरूपोऽहं तेजोरूपासि त्वं तदा ।
न शरीरी यदाहं च तदा त्वमशरीरिणी ॥'
'ममार्द्धांशस्वरूपा त्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी ।
शक्त्या बुद्ध्या च ज्ञानेन मया तुल्या वरानने ॥
आवयोर्भेदबुद्धिं च यः करोति नराधमः ।
तस्य वासः कालसूत्रे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥'
(ब्रह्मवै० श्रीकृष्ण० पू० १५)

श्रीकृष्णस्त्वमियं राधा त्वं वा राधा हरिः स्वयम् ।
न हि वेदेषु मां भेदो दृष्टो वापि श्रुतोऽपि वा ॥
सर्वा देव्यः प्रकृत्यंशा जन्याः प्राकृतिका ध्रुवम् ।
त्वं कृष्णार्द्धाङ्गसम्भूता तुल्या कृष्णेन सर्वतः ॥
नित्योऽयं च यथा कृष्णस्त्वं च नित्या तथाम्बिके ।
अस्यांशा त्वं त्वदंशोऽयं भेदः केन निरूपितः ॥
(ब्रह्मवै० श्रीकृष्ण० पूर्व १५)

यस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम् ।
तस्मादिदं महादेवि गोपालेनैव भाषितम् ॥
(सम्मोहनतन्त्र, गो० स० ना०)

यः कृष्णः सापि राधा या राधा कृष्ण एव सः ।
अनयोरन्तरादर्शी संसाराच्च विमुच्यते ॥
(ब्रह्मसंहिता नारदपं०)

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धि-
र्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत् ॥
(श्रीराधातापिनी उप०)

सम्पूज्या हरिणा सार्द्धं प्रेष्ठा कृष्णानपायिनी ।
साक्षात् कृष्णमयी यत्र युगेज्याव्रतधारिणाम् ॥
(ब्रह्मवै० पु०)

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ ।
आत्मारामतया विप्र प्रोच्यते गूढवेदिभिः ॥
(स्कन्दपु० भा० मा०)

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका ।
तस्या एवांशविस्ताराः सर्वाः श्रीकृष्णनायिकाः ॥
स एव सा स सैवास्ति वंशी तत्प्रेमरूपिका ॥
(स्कन्दपु० भाग मा०)

तदङ्घ्रिपङ्कजद्वन्द्वनखचन्द्रमणिप्रभाः ।
आहुः पूर्णब्रह्मणो हि कारणं वेददुर्गमम् ॥
(पद्मपु०, पातालखण्ड)

कदाचित् क्रीडतोर्देवि राधामाधवयोर्वपुः ।
द्विधाभूतमभूत् तत्र वामाङ्गाद् वै चतुर्भुजम् ॥
समानरूपावयवं समानाम्बरभूषणम् ।
तद्वद्राधास्वरूपं च द्विधाभूतमभूत् सति ॥
ताभ्यां दृष्टं तत्स्वरूपं साक्षात्तावपि तत्समौ ।
चतुर्भुजं तु यद्रूपं लक्ष्मीकान्तं मनोहरम् ॥
राधावामांशसम्भूता महालक्ष्मीः प्रकीर्तिता ॥
(नारदीय पु० उत्तरभाग)

अथ कालान्तरे सा च द्विधारूपा बभूव ह ।
वामार्धाङ्गा च कमला दक्षिणार्धा च राधिका ॥
एतस्मिन्नन्तरे कृष्णो द्विधारूपो बभूव ह ।
दक्षिणार्धश्च द्विभुजो वामार्धश्च चतुर्भुजः ॥
(ब्रह्मवै० प्रकृतिख० २ । ५६-५७)

उक्त प्रमाण श्रीराधाकृष्णकी सर्वमूलस्वरूपता, परब्रह्मता, सर्वेश्वरता, सर्वसेव्यता, परस्पर सर्वांशमें तुल्यता, अभिन्नता, नित्यता, द्विभुजसे चतुर्भुजका प्राकट्य आदि सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त हैं । इसी कारणसे 'श्रीमहावाणी'में श्रीमहाचार्यचरण लिखते हैं—

'जाउँ बलिहारी नित्य बैभव बिहारी,
जुगलकिसोर स्वयं सत्य श्रुति सारी ।
अखिल ब्रह्माण्ड ब्रह्म व्यापक है जाईं,
तिहारे चरन नख आभा है साईं ॥
परमातम बिस्वकाय नारायन बिष्नु,
धर्म हैं तिहारे, तुम धर्मी जग जिष्नु ।
बाल कौमार पौगंड बपु धरि कै,
करत बिहार जन हेत अनुसरि कै ।
ललित अगाध लीला बरनि नहिं जाईं,
श्रीहरिप्रिया भागवत कहैं प्रभुताईं ॥'
'तत्त्व के तत्त्व, सिद्धांत सिद्धांत के,
सार के सार, सुखरूप के रूप ।
अमित ऐश्वर्य माधुर्य श्रीहरिप्रिया,
भाँवते भवन के भाँवते भूप ॥

इस प्रकार सर्वमूल, असमोर्द्ध्व, सर्वकारणकारण, अखिलव्यूहादिसेव्य, नित्य, समानशक्तिगुणक श्रीराधा-कृष्णस्वरूपकी भक्तिका उपदेश श्रीनिम्बार्कभगवान्ने किया है । श्रीसनकादि, श्रीनारद, श्रीनिम्बार्क एवं तत्परम्परागत सभी आचार्य एवं शिष्य-प्रशिष्योंका यही "युगलभक्तिव्रत" है । उक्त शास्त्रीय प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि श्लोकोक्त सूत्ररूपमें कहे हुए 'अनुरूप 'सौभगां', देवीं' आदि श्रीराधिकाके विशेषणोंका, 'स्वरूप-शक्ति-गुणादिमें सर्वांशतः श्रीकृष्णतुल्य', यही अर्थ आद्याचार्यचरणोंको अभिमत है । श्रीनिम्बार्कभगवान्के शिष्य श्रीऔदुम्बराचार्यद्वारा रचित 'औदुम्बरसंहिता'के श्रीनिम्बार्कप्रोक्त 'युगलाराधनव्रत'से भी यही बात पुष्ट होती है । इसी कारण इस युगलोपासनामें परस्पर शक्तिशक्तिमद्भाव एवं तद्धेतुक गौण-प्रधानभाव अभीष्ट नहीं है । क्वचित् 'श्रीमहावाणी'में जो 'शक्ति' शब्दसे श्रीराधाका निर्देश किया गया है, उसका अभिप्राय श्रीराधाके अप्राधान्यमें नहीं, और न उसके केवल 'ह्लादिनी-शक्तित्व' में है । दोनों रूपोंकी स्वरूपशक्तिमत्परब्रह्मस्वरूपता है—प्रियाजी ह्लादिनीप्रधान हैं और प्रियतम आनन्दप्रधान । उसी प्रकार शृङ्गार-रस-लीलामें स्वाधीनपतिका श्रीराधाके प्राधान्य-वर्णनसे इस युगल-भक्तिमें, प्रियाजूको केवल ह्लादिनीशक्ति मानकर, जो 'शाक्तत्व' दोषका आरोप करते हैं, उनका वह आरोप अविचारविलसित है । जब उक्त प्रमाणोंसे श्रीराधिका 'परब्रह्मस्वरूपा' हैं, तब फिर 'शाक्तता' कैसे सिद्ध हो जाती है—यह आक्षेप करनेवाले ही जानें ।

शृङ्गार-रस-स्वरूप युगलकी भक्तिका अधिकार अर्थापत्तिसे सखीभाव-भावितान्तःकरणोंको ही है । पुरुषभाववालोंका युगलधाम श्रीवृन्दावन-नित्य-निकुञ्जमें प्रवेश होना असम्भव है । भगवद्गीताके—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो .... ॥

—इस वचनके अनुसार जीव भगवान्की परा अर्थात् चेतन प्रकृति है । यही उसका स्वाभाविक अकृत्रिम स्वरूप है । प्राकृत स्त्री-पुरुष-भाव आरोपित, कृत्रिम, अनित्य है । उसके पराप्रकृतित्वके अनुरूप युगलसखीभाव ही है । इसी अभिप्रायसे श्रीमद्धरिव्यासदेवाचार्यजू 'श्रीमहावाणी, सेवा-सुख' के प्रारम्भमें ही लिखते हैं—

प्रात समय ही ऊठ कैं धारि सखी को भाव ।
जाय मिलैं निज रूप सौं या कौ यही उपाव ॥

जीवके प्रकृतित्व (स्त्रीत्व)के विषयमें पद्मपुराण, पातालखण्ड, वृन्दावन-माहात्म्यमें यह श्लोक मिलता है—

भुजद्वययुतः कृष्णो न कदाचिच्चतुर्भुजः ।
गोप्यैकया युतस्तत्र परिक्रीडति सर्वदा ॥
गोविन्द एव पुरुषो ब्रह्माद्याः स्त्रिय एव हि ।

पुरुषः प्रकृतिश्चाद्यौ राधावृन्दावनेश्वरौ।
प्रकृतेर्विकृतं सर्वं विना वृन्दावनेश्वरम्॥

उपर्युक्त युगलस्वरूपके आराधक सखीभावभावितस्वान्त भक्त चरम देहपातके अनन्तर 'यथाक्रतु' न्यायसे भगवत्सत्यसंकल्प-प्राप्त कालगुणातीत अप्राकृत स्वरूपशक्त्यंशरूप शुद्ध सत्त्वमय देहमें प्रविष्ट होकर उसमें अपनी नित्यस्थितिका अनुभव करते हैं। किंतु यह अनुत्तम गति युगलकृपैकसाध्य है—केवल साधनके बलसे ही इसको प्राप्त करना असम्भव है। उसी 'श्रीमहावाणी' में कहा गया है—

सकल साधन सुकृत मुक्ति सारिष्ट लगि।
बिनु कृपा कोटि कोट्यानबिधि व्यर्थ॥
(सि० सु०)

इसी अभिप्रायसे श्रीआद्याचार्यचरण दशश्लोकीमें लिखते हैं—

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा॥ ३॥

"दैन्यादि गुणसम्पन्नपर ही इन सर्वात्मा श्रीकृष्णकी—जिनका कोई अन्य अधिपति नहीं, जो 'पतिं पतीनाम्' अर्थात् पतियोंके भी पति हैं—कृपा प्रकट होती है। भगवत्कृपापात्र होनेपर ही 'प्रकृष्ट-प्रेम' लक्षणा उत्तम अर्थात् फलरूपा परा-भक्ति प्राप्त होती है और इस पराभक्तिकी प्राप्तिके लिये इष्ट-फलानुरूप साधनरूपा जो नवधा भक्ति है, वह 'अपरा' है—जिसके निष्कामतापूर्वक करनेसे जीव भगवत्कृपायोग्य होता है॥३॥"

'दैन्य' शब्दसे यहाँ अहं-ममाभिमानशून्यता विवक्षित है। अर्थात् भगवच्छरणागतिपूर्वक 'आत्मात्मीयसर्वस्वसमर्पण' में इसका तात्पर्य है तथा 'आदि' शब्दसे संतोष-परिचर्यादिका ग्रहण है। अर्थात् यह शरणागति गुरुद्वारक है। परिचर्या श्रीगुरु तथा श्रीगोविन्द दोनोंकी है। जैसे कहा है—

'सर्वं त्वदीयं न ममास्ति किंचि-
दहं त्वदीयो न ममाहमस्मि।'

'द्व्यक्षरं तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥'
'उपाया नैव सिद्ध्यन्ति ह्यपाया विविधास्तथा।
इति या गर्वहानिस्तद् दैन्यं कार्पण्यमुच्यते॥'

है—

'वशीकृतिं यान्ति नहीन्द्रियाणि
बुद्धिर्न शुद्धिं समुपैति तस्मात्।
न कारणं मेऽस्ति तव प्रसादे
दयालुभावेन विना हरे ते॥'
'न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमाँस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥'

इस प्रकार दैन्यपूर्वक भगवच्चरणोंमें प्रथम आत्मात्मीय-भरन्यास करनेपर सत्सङ्गादिद्वारा हृदयमें भगवद्भक्ति अङ्कुरित हो जाती है।

भक्तिका लक्षण शास्त्रोंमें कई प्रकारसे किया गया है। जैसे श्रीगोपालतापिनी उपनिषद्में—

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनैवामुष्मिन्मनः-कल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम्।

अर्थात्—

लोकद्वयानपेक्षत्वं रसस्योपनिषत्परा।

इस उक्तिके अनुसार लोकद्वयकामनाका परित्याग करके निष्काम होकर भगवान्‌में मन लगानेको भक्ति कहते हैं।

श्रीनारदपञ्चरात्रमें—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

'सर्वकामपरित्यागपूर्वक निर्मलित मनसे तदेकपर होकर की जानेवाली भगवत्-सेवाको भक्ति कहते हैं।'

नारदभक्तिसूत्रमें—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' अर्थात् इष्टमें परमप्रेम ही भक्ति है। नारदपञ्चरात्रमें—

माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया साष्ट्यादि नान्यथा॥

भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वक सबसे अधिक जो भगवान्‌में सुदृढ स्नेह है, वही 'भक्ति' कहलाता है। उसीमें—

मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता।
अभिसंधिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी॥

'मोक्षादि सब प्रकारकी स्वार्थकामनासे रहित, प्रेममें सनी हुई जो भगवान्‌के प्रति सतत (स्वाभाविक) मनोवृत्ति है, वही 'भक्ति' है—उसीसे भगवान् वश होते हैं।'

सारांश, माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक मनोवाकाय-व्यापारद्वारा सेव्य-

सुखैकप्रयोजनवती भगवत्सेवा 'भक्ति' कहलाती है। स्वार्थ-सुखगन्धरहित तत्सुखसुखित्वका ही नाम 'प्रेम' है। प्रेमकी व्याख्या नारदपञ्चरात्रमें इस प्रकार की गयी है—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंज्ञिता।

अर्थात् अन्यविषयक ममतासे रहित भगवान् विष्णुके प्रति जो (दृढ़) ममता है, वही 'प्रेम' कहलाती है।

यदि उपास्यदेवके माहात्म्यज्ञानसे उपासक अपरिचित हो तो तादृश भक्तिमें लौकिकता आ जाती है और यदि ऐश्वर्य-भावको अपने सख्यादि-स्थायिभावके साथ मिश्रित कर देता है तो सख्यरसकी स्फूर्ति नहीं होने पाती। इसलिये अपने स्थायिभावके साथ ऐश्वर्यभावको मिश्रित न करे। 'स्थायिभाव' स्थायिरूप—अविचल रहे और ऐश्वर्यादिभाव उसके अविरोध-से 'संचारी'मात्र रहें। जैसे श्रीमहावाणीमें कहा है—

'राजत पर ते पर सर्वेश्वर। परमधाम बृंदावन निज घर॥'
'सखी री सच्चिदानंद स्वरूप' इत्यादि। (सि० सु०)

युगलसखियोंकी इस फलरूपा सेव्यसुखैकसुखितामयी पराभक्तिका श्रीमहावाणीमें इस प्रकार वर्णन आता है—

सदा सुदंपति के मन मानी, महल टहलमें महासयानी।
डोलति बोलति कोकिल बानी, रमझमाति रतिरस में सानी॥
परम चतुर जिय की सब जानैं, समुझि समुझि सोई बिधि बानै।
मुख ते जोइ जु बचन बखानैं, जाकौं सुनि दोऊ रुचि मानैं॥
छिन छिन प्रति नव नेह जनावैं, बिबिध बिनोद मोद उपजावै।
नवल जुगल बर के मन भावैं, अंग अनंग तरंग बढ़ावैं॥
दंपति की प्यारी परिचारी, परमानंद भरी अति भारी।
कबहुँ न होय संग ते न्यारी, रहति सदा जैसें छाया री॥
चितवति चंद बदनि चहुँ ओरी, चारु चकोरी ज्यों रस बोरी।
अति आनंद समुद्र झकोरी, फिरति टहल में ज्यों चकडोरी॥
...　...　...　...
लाड़िलि लाल लड़ावति छिन छिन, चित में चौंप बढ़ावति दिन दिन।
...　...　...　...
दामिनि सी दमकैं तन गोरें, चंद बदनि सहचरि चहु ओर॥
...　...　...　...
निकट जुगल बर नैन निहारैं, पलकैं पलक प्रान धन वारैं।
तिन बिच तनक न अंतर पारैं, सदा एकरस रंग निहारैं॥
हैं हैं सौंज सबै सब पाहीं, चितैं रहीं जुगचंद्र जु छाहीं।
...　...　...　...
जाय जाय जुगचंद्रहि जीवैं, नैन कटाच्छ चरन रज छीवैं॥

लखि लखि इनकी अद्भुत अंगा, चकित होय चित रहत अनंगा।
ए इनहीं सी और न कोई, उपमा कहन कौन मति होई॥
पिय प्यारी इच्छा बपु जोई, अमित कला सुख सेवैं सोई।
परम चतुर जद्यपि गुन भोरी, एक डार की सी सब तोरी॥
तत्पर टहल महल रस बोरी, जीवनि जिय (श्री) हरिप्रिया जोरी।
—सि० सु०

सखियोंकी उक्ति

यह रसिक सिरोमनि जोरी जू, नव नित्य किसोर किसोरी जू।
सहज सदा सुखकारी जू, यह जीवन प्रान हमारी जू॥
बड़ें भाग्य हम पाई जू। बरनौ नहिं जाय बड़ाई जू॥
नवल निकुंज निवासी जू। उर आनँद प्रेम प्रकासी जू॥
गौर स्याम तन सोहैं जू। घन दामिनि उपमा को है जू॥
रूप अनूपम राजैं जू। लखि कोटि काम रति लाजैं जू॥
सहज सनेह सनेही जू। ए एक प्रान द्वै देही जू॥
सब सोभा के सागर जू। नव नागर नित्य उजागर जू॥
आनँद अह्लाद स्वरूपा जू। सत असत परे पर भूपा जू॥
मूरति सब सुख रासी जू। महा मन्मथ इष्ट उपासी जू॥
रंग रँगीले सुंदर जू। परधाम प्रकास पुरंदर जू॥
उपजीविन के उपजीवी जू। दंपति सुख संपति दीवी जू॥
मंगल मोद प्रदायक जू। गुन आगर स्वतै सुभायक जू॥
निरवधि नित्य बिहारा जू। पावैं जिहि वार न पारा जू॥
श्रीहरिप्रिया सलोने जू। आगें भए न अब कोउ होने जू॥
—सं० सु०

इस प्रकार आद्याचार्य श्रीनिम्बार्कप्रोक्त युगल-उपासना या युगलकी प्रेमलक्षणा पराभक्ति सेव्य-सुखमें ही सुख-माननेवाली, स्वार्थशून्य, परमप्रेमरूप, दाम्पत्यभावसे अस्पृष्ट, तत्त्वतः युगलस्वरूपसमप्राधान्यात्मक, किंतु प्रेमात्मक शृङ्गार-लीलामें स्वाधीनपतिका श्रीराधाप्राधान्यात्मक, असमोर्ध्व एवं भक्ति-परमफलरूपा है। व्रजलीलागत गोपीभावके लक्ष्य एवं सेव्य एक श्रीकृष्ण ही हैं, किंतु युगल-सखीभावका लक्ष्य तथा सेव्य प्रोक्तलक्षण युगलस्वरूप है। इस युगल-सखीभावमें कान्ता-भावके लिये अवकाश नहीं। अन्यथा युगलानन्यताभास अनिवार्य है। युगलोपासनाधिकार 'राधासहित कृष्णप्राधान्यात्मक उपासना'से भिन्न है। अप्राकृत दिव्य श्रीवृन्दावन-निकुञ्ज-धाममें श्रीकृष्ण, सखीवृन्द एवं तत्रत्य प्राणिसमूह, पक्षिगण, वृक्ष-लता आदि सब-के-सब (युगल) श्रीराधा-आराधक हैं, श्रीराधासुखैकसुखी हैं। निकुञ्जेश्वरी श्रीराधाकी प्रसन्नताके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाले हैं। व्रजलीलागत शृङ्गार

पड़े

सम्मिश्र है, और निकुञ्जगत श्रृङ्गार श्रीराधातिरिक्त अन्य श्रृङ्गारसे शून्य अतएव विशुद्ध है।

श्रीराधा-कृष्ण, युगलसखीवृन्द, श्रीवृन्दावन—ये तीनों परमविशुद्धप्रेमरसस्वरूप एवं परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धसे सम्बद्ध हैं। श्रीमहावाणीमें वृन्दावनका असमोर्ध्व स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

'अष्ट सहचरिन के बिना परिकर यहाँ,
और सहचरिन कौ नहिं प्रवेसा।
काल गुन रहित निजधाम बृंदाविपिन
परम अभिरामता को सुदेसा॥
दिव्य अद्भुत नगनि जगमगति जगति अति,
अमित अँसुमान के अंसु लाज।
कोटि कंदर्प के दर्प दलमल करैं,
गर्व गोलोक के सर्व भाजैं॥
रसिक जन उरसि अनुराग की वर्द्धिनी,
मुक्ति सारिष्ट पर सुख कि दाता।
सकल अंसादि अवतार की सेव्य श्री
स्याम स्यामा सुजोरी विख्याता॥'
... ...
'अखिल ब्रह्मांड बैराट के थाट सब
महाबैराट के रोम के कूप।
सावकासैं उड़त रहत नित सहज हीं,
परम, ऐश्वर्य आश्चर्यमय रूप॥
सो प्रथम एक ही सून्य मधि समि रह्यौ,
जैंसे त्रिसरेनु के रेनु सत अंस।
यातें दस दस गुनी सहस सत सून्य पुनि,
तिन तें लख सहस महासन्य अवतंस॥
तिन महासून्य के सिखर पर तेज का,
कोटि गुन ते गुनौ अमित बिस्तार।
तहाँ निज धाम वृंदा विपिन जगमगे,
दिव्य बैभवन को दिव्य आगार॥
मन बचन हू जहाँ पहुँचि सकत न कबहुँ,
बुद्धि विथकित चितहु अतिहि असमर्थ।
सकल साधन सुकृत मुक्ति सारिष्ट लगि,
बिनु कृपा कोटि कोय्यान विधि ब्यर्थ॥
—सि० सु०'

—पुराणोंमें तो वृन्दावनकी असमोर्ध्वताके प्रमाण भरे पड़े हैं—

रसमार्गेण ये देवमीक्षन्ते परिशीलितुम्।
तेषां भूमावपि निजं स्थानमाविष्कृतं मया॥
मया सह विनोदार्थं येषामस्ति मनोरथः।
तेषामिह समावासो नित्यं वृन्दावनेऽस्तु हि॥
(बृहद्ब्रह्मसंहिता २ पा० चतुर्थ)

श्रीगोपालतापिनीमें—

'एतद्विष्णोः परमं पदम्'—इत्यादि।

पद्मपुराण पातालखण्डमें अर्जुनके रासलीला-दर्शन-प्रसङ्गमें—

गतो राधापतिस्थानं यस्सिद्धैरप्यगोचरम्।
ततश्च तदुपादिष्टो गोलोकादुपरिस्थितम्॥
नित्यं वृन्दावनं नाम नित्यरासरसोत्सवम्।
अदृश्यं परमं गुह्यं पूर्णप्रेमरसात्मकम्॥

विस्तारभयसे यहाँ इतने ही प्रमाण पर्याप्त समझता हूँ। इन सबका आशय यह है कि दिव्य वृन्दावन प्रसिद्ध गोलोक-का भी शेखरीभूत है।

'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'

—इत्यादि श्रुतियाँ जिस रसस्वरूप परमात्माका वर्णन करती हैं, उसका साक्षादनुभूतिस्थान यह दिव्य वृन्दावन एवं तत्प्रकाशस्वरूप भू-वृन्दावन है। वैदिक वाङ्मयमें—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। (श्वे० उप०)
भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषः, भक्तिरेव भूयसी।
(माठरश्रुति)
तं यथा यथोपासते तथैव भवति। (शतपथब्राह्मण)
सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत(छान्दोग्य)

—इत्यादि वाक्य भक्तिका स्पष्ट विधान कर रहे हैं। ज्ञान, योग, कर्म आदिका पर्यवसान 'भक्ति'में है।

इस प्रकार आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान्‌की कही हुई प्रेमविशेषलक्षणा पराभक्तिका एवं 'भक्तिरसस्ततः परम्' (दशश्लोकी) में संकेतित परमप्रेमानन्दाख्य भक्तिरसका यहाँ दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। विशेष जिज्ञासा हो तो जिज्ञासु एतत्साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका परिशीलन करें।

अन्तमें भगवन्निम्बार्कशिष्य श्रीऔदुम्बराचार्यप्रोक्त निम्नाङ्कित श्लोकसे इस लेखकी सम्पूर्ति करते हैं—

जयति जयति राधाकृष्णयुग्मं वरिष्ठं
व्रतसुकृतनिदानं यत्सदैतिह्यमूलम्।
विरलसुजनगम्यं सच्चिदानन्दरूपं
व्रजवलयविहारं नित्यवृन्दावनस्थम्॥

भक्तिका बल

(लेखक—श्रीविश्वम्भरसहायजी 'प्रेमी')

मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिबर गहन।
जासु कृपाँ सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन॥

आजसे पैंतालीस वर्ष पूर्व महाकवि श्रीतुलसीदासजीकी वन्दनाकी ये पंक्तियाँ मैंने रामचरितमानसमें पढ़ी थीं। उस समय अर्थ भी कण्ठस्थ कर लिया था, परंतु उसका वास्तविक भाव मेरी बुद्धिमें नहीं बैठा था। मैं यह नहीं समझ पाया कि बिना पैरका व्यक्ति उन्नत पर्वतपर कैसे चढ़ सकता है। मैं यह भी नहीं समझ पाता था कि गूँगा कैसे बोलने लगता है। भगवान् रामकी भक्तिमें लीन होकर गोस्वामी तुलसीदासजीने ऐसा लिख दिया है, यही मेरी उस समयकी विचार-सीमा थी।

गोस्वामी तुलसीदासजीके मानसको मैंने अनेक बार पढ़ा। उसके अनेक स्थलोंपर कुछ लिखनेका भी प्रयास किया। परंतु 'पंगु चढ़इ गिरिबर गहन' का अर्थ समझनेका ही नहीं, किंतु ऐसे दृश्यको स्वयं अपने नेत्रोंसे अवलोकन करनेका अवसर प्राप्त होनेपर भगवान्‌की कृपा और दयाका रहस्य खुल गया। अबसे दो वर्ष पूर्वकी बात है, मुझे श्रीबदरीनाथ जानेका सुअवसर प्राप्त हुआ। उससे पहले भी मैंने अनेक यात्राएँ की थीं, परंतु इस यात्राके समान कोई अन्य यात्रा कठिन न थी। मुझे अपने पैरोंका भरोसा था, परंतु पहले दिनकी चार-पाँच मीलकी चढ़ाईसे एक बार मनमें कुछ आशङ्का हुई कि अड़तीस मीलकी चढ़ाई किस प्रकार की जायगी। दूसरा दिन हुआ। पर्वतोंके भव्य, रमणीक और हृदयको लुभानेवाले दृश्योंको अवलोकन करते हुए हमलोग आगे बढ़ते रहे। एक स्थानपर किसी कच्चे पहाड़के टूट जानेसे हम सबको एक नये मार्गसे चलना पड़ा। मार्ग अत्यन्त सँकरा था, चढ़ाई भी कुछ अधिक थी, परंतु यात्री 'जय बदरी विशाल' बोलते हुए आगे बढ़ रहे थे। मार्गमें हमें एक ऐसा मनुष्य मिला, जिसके दोनों पैर कटे थे। उसके दोनों हाथोंमें लकड़ीके दो टुकड़े थे, जिनके सहारे वह आगे बढ़ता था। धड़से नीचेके भागमें उसने टाट बाँध रखा था। उस भाग और दोनों हाथोंके सहारे उसे ऊँचे पर्वतपर चढ़ते देखकर हमारी समझमें सहज ही आ गया—'पंगु चढ़इ गिरिबर गहन।'

पाण्डुकेश्वरसे आगे हमें एक वृद्धा मिली। वृद्धा लकड़ीके सहारे आगे बढ़ रही थी। उसकी चाल मेरे और मेरे साथियोंकी चालसे अधिक ही थी। मैं आश्चर्य करने लगा कि यह पतली-दुबली बुढ़िया इतनी तीव्र गतिसे कैसे चल पा रही है। मैंने अपनी चाल कुछ तीव्र की, साथियोंको पीछे छोड़ दिया। केवल जयपुरके एक साथी मेरे साथ-साथ आगे बढ़े। अवसर पाकर मैंने उस वृद्धासे पूछा—'क्यों माई! तुम इतनी तेज कैसे चलती हो?'

उसने तत्काल उत्तर दिया 'अपने पैरोंसे चलती हूँ।'

मैंने कहा—'माई! पैरोंसे तो सभी चलते हैं। पीछे आनेवाले भी अपने पैरोंपर ही चल रहे हैं। परंतु तुम तो हम सबको मात करके आगे ही बढ़ती जा रही हो। बताओ तो, तुम्हारी उम्र क्या है?'

मेरे इस प्रश्नपर वह वृद्धा वृक्षकी छायामें एक विशाल चट्टानके सहारे बैठ गयी। वह कहने लगी 'मैं एक कम अस्सी बरसकी हूँ। भगवान् बदरीनाथके दर्शनोंको तीसरे जा रही हूँ, तीसरे!' इन बातोंके बीच ही मेरी पत्नी और अन्य साथी भी वहाँ आ गये। मैंने उस वृद्धासे फिर प्रश्न किया, 'मैया! तुम तीसरी बार क्यों जा रही हो?'

'भगवान्‌के दर्शन तीन बार करनेका मैंने निश्चय किया था। उनकी कृपासे मुझे यह अवसर मिला है, फिर क्यों न उनके चरणोंमें जाऊँ?' इतना कहकर वृद्धा पुनः अपनी लाठीके सहारे आगे बढ़ने लगी। हम सब अपनी चालसे चलने लगे।

रात्रिको जिस चट्टीपर हमने विश्राम किया, वहाँ अनेक प्रान्तोंके यात्रियोंको देखनेका अवसर प्राप्त हुआ। प्रत्येक यात्री अपने आवश्यकतानुसार सामान खरीदकर चट्टीपर विश्राम करता है। चट्टीका दूकानदार गढ़वाल ज़िलेके किसी ग्रामका रहनेवाला था। उसकी भाषामें पहाड़ी बोलीका अधिक पुट था। वहीं ट्रावनकोरकी एक महिला आ गयी। उसे कुछ दूध लेना था, भोजनकी कुछ अन्य सामग्री भी लेनी थी। उसके साथ ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था, जो हिंदी या वहाँकी भाषामें दूकानदारको उसके विचार समझा सके। परंतु उस महिलाने वस्तुओंको हाथ लगाकर, अपने पैसे दिखाकर काम चला लिया। वह महिला बड़ी प्रसन्न थी। उसने चाय भी लेकर पी। हमें बादको पता चला कि वह हँसमुख स्त्री गूँगी थी। गूँगी होते हुए भी तुलसीके शब्दोंमें वह 'मूक होइ बाचाल' भावनाको साकार कर रही थी।

इससे भी अधिक मुझे इस बातने चकित किया कि शोलापुरके अंध-बधिर-केन्द्रमें जन्मकी गूँगी लड़की अच्छा बोलना सीख गयी। इस केन्द्रके संचालक श्री डी० आर० ओकसे मैंने जब यह प्रश्न किया कि यह कैसे बोलना सीख गयी, तब उन्होंने कहा, 'यह तो केवल भगवान्‌की दयालुताका फल है। प्रभु इसकी और मेरी साधनापर प्रसन्न हैं। उसीके सहारे मैं इसे बोलनेका अभ्यास करा सका।'

श्रीबदरीनाथ पहुँचनेपर हमने अपने ठहरनेकी व्यवस्था की। मन्दिरकी अतिथिशालामें मेरे ठहरनेका प्रबन्ध हो गया। गरम वस्त्रोंकी मेरे पास कोई कमी न थी। साथ ही कमरेमें हीटर भी लगा था। इस सुख-सुविधाके कारण शीतका कोई भय न रहा। परंतु कुछ देर पश्चात् मुझे मन्दिरके प्रबन्धकके साथ मन्दिर तथा पुरीके छोटेसे बाजार तक जाना पड़ा। मैंने देखा कि मन्दिरकी निचली सीढ़ियोंसे सटे हुए कई व्यक्ति विश्राम ले रहे हैं। उनमेंसे एक-दोके पास केवल चादर ही थी। कुछ आधा कम्बल बिछाये और आधा शरीरसे लपेटे पड़े थे। मैं आश्चर्यमें पड़ गया कि इनको ठंड क्यों नहीं लगती। प्रबन्धकसे वार्तालाप होनेपर विदित हुआ कि इस प्रकारके भक्तजन तो यहाँ अनेक आते हैं। भगवान् श्रीबदरीविशालके दर्शनोंसे ये लोग ऐसा समझते हैं कि उन्हें आत्मिक बल प्राप्त हो गया।

इन सब घटनाओंके साथ-साथ हम यह भी बता देना चाहते हैं कि अलकनन्दाके बर्फ-जैसे शीतल जलमें अनेक यात्रियोंको हमने उसी श्रद्धा और भक्तिके साथ स्नान करते देखा, जिस प्रकार इधर मैदानी भागोंमें श्रद्धालु यात्री गङ्गा और यमुनामें स्नान करते हैं। यह है मानवकी श्रद्धाका फल! श्रद्धामें अपार बल है। श्रद्धा-भक्तिके सहारे मानव दुर्गम घाटियोंको पार कर लेता है। इसपर भी जिसे भगवान्‌की कृपा प्राप्त हो गयी, वह तो बड़ा ही भाग्यशाली है।

भगवान्‌का श्रीविग्रह

[भगवान्‌के सगुण-साकार रूपका दिव्यत्व और सच्चिदानन्दत्व]

(लेखक—पं० श्रीजगदीशजी शुक्ल, साहित्यालंकार, काव्यतीर्थ)

भगवान्‌का सगुण-साकाररूप दिव्य और सच्चिदानन्दमय है। भगवान्‌की देह पञ्चभूतोंद्वारा निर्मित नहीं होती; वह तो स्वेच्छासे निर्मित लीलामय होती है। साधारण जीवोंके शरीरका निर्माण पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और पवनके अंशोंसे होता है। उसमें रज-वीर्यकी प्रधानता होती है।

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥
(रामचरितमानस)

परंतु भगवान्‌के श्रीविग्रहकी रचना रज और वीर्यके संयोगसे नहीं होती। माता कौसल्या और माता देवकीको जो गर्भ रहता है, वह लीलागर्भ होता है। भगवान् श्रीकृष्ण वायुसे पूर्ण देवकीके उदरमें अर्थात् लीलागर्भमें लीलासे आते हैं।

गर्भे च वायुना पूर्णे निर्लिप्तो भगवान् स्वयम्।
हृत्पद्मकोशे देवक्या अधिष्ठानं चकार ह॥
(ब्रह्मवैवर्त०)

'देवकीके वायुपूर्ण गर्भमें—देवकीके हृदय-कमलके कोशमें निर्लिप्त भगवान्‌ने स्वयं वास किया।'

भगवान् श्रीकृष्णका जब आविर्भाव होने लगा, तब देवकीके गर्भसे वह लीला-पवन बाहर निकला और वहीं भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य रूप प्रकट हो गया। वसुदेवजी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए उन्हें अपनी इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाला बतलाते हैं—

स्वेच्छामयं सर्वरूपं स्वेच्छारूपधरं परम्॥
(ब्रह्मवैवर्त०)

श्रीमद्भागवतमें भी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । २)

'भगवन्! आपकी यह लीला-देह भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेवाली है। यह आपकी चिन्मयी इच्छाका साकाररूप मुझपर आपकी साक्षात् कृपा है। मुझपर कृपा करनेके लिये ही आपने इसे प्रत्यक्ष किया है। यह पञ्चभूतोंकी रचना नहीं

है। यह तो अप्राकृत है, अविकृत है और शुद्ध सत्त्वमय है। मैं या कोई समाधि लगाकर भी आपके इस चिदानन्दमय विग्रहकी महिमा नहीं जान सकता। फिर आत्मानुभवस्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमाको तो कोई कैसे जान सकता है।'

इस पद्यमें 'स्वेच्छामयस्य' और 'न तु भूतमयस्य' 'वपुषः'के विशेषण हैं। ब्रह्माजी यहाँ बतलाते हैं कि भगवान्‌का श्रीविग्रह पञ्चभूतोंका बना हुआ नहीं है, बल्कि स्वयं भगवान्‌की इच्छासे बना हुआ है। गीतामें भी भगवान्‌ने अपने जन्म और कर्मको दिव्य बतलाया है—

जन्म कर्म च मे दिव्यम्।

श्रीरामचरितमानसमें तो मनु और शतरूपाको वरदान देते हुए भगवान् स्वयं कहते हैं—

इच्छामय नर बेष सँवारें। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारें॥

ब्रह्मवैवर्त्तका 'स्वेच्छारूपधरम्', श्रीमद्भागवतका 'स्वेच्छामयस्य' और रामचरितमानसका 'इच्छामय नर बेष सँवारें' एक ही चीज है। स्वेच्छामय होनेके कारण ही भगवान्‌का श्रीविग्रह दिव्य और लोकोत्तर सौन्दर्यसे परिपूर्ण होता है।

जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियोंपर पूर्णतः अधिकार कर लिया है, जो विषयोंकी वैतरणी पार कर चुके हैं, जिनकी भोगशक्ति सर्वथा मिट चुकी है, वे सिद्ध पुरुष और ब्रह्मज्ञानी भी भगवान्‌के दिव्य रूपकी ओर आकर्षित हो जाते हैं— उनकी ज्ञान-गङ्गा उनके भक्ति-सिन्धुमें निमग्न हो जाती है। जनक-जैसा ज्ञानी जब भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणके दिव्य रूपको देखता है, तब उसकी क्या दशा होती है, गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें सुनिये—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥

राजा जनक अपनी ज्ञान-गरिमाके कारण विदेह तो थे ही, इस दिव्य रूपके दर्शनसे अपनी सारी सुध-बुध खोकर विशेषतः विदेह बन गये। उनका ज्ञानमय मन प्रेम-सागरमें निमग्न हो गया। ब्रह्मज्ञानी राजाने बड़ी कठिनतासे अपने विवेकको सजग किया और धैर्य धारणकर महामुनि विश्वामित्रसे प्रणामपूर्वक पूछा। राजा जनककी वाणी प्रेमसे बोझल हो रही थी। वे कहते हैं—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

अन्तिम चौपाईपर ध्यान दीजिये। जनकजी कहते हैं— 'इन बालकोंके दर्शनसे अपार अनुराग उमड़ आया है और मनने जबरदस्ती न चाहनेपर भी ब्रह्मानन्दका त्याग कर दिया है। ब्रह्मानन्द दब गया है और दर्शनानन्द बढ़ गया है।' जब जनक-जैसे महाज्ञानीकी यह दशा हो गयी, तब फिर साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है।

भक्त रसखान ताल ठोंककर कहते हैं—

जौ लौं तोहि नंद कौ कुमार नाहिं दृष्टि पर्यौ
तौ लौं तू बैठि भलें ब्रह्म कौं बिचारि कै॥

सारांश यह कि जबतक भगवान्‌के सगुणरूपका दर्शन नहीं होता, तभीतक मन ब्रह्मानन्दमें निमग्न रह सकता है और भगवान्‌के दर्शनके बाद षड्दर्शनकी बात तो समाप्त ही हो जाती है, किसी अन्यके दर्शनकी लालसा भी मिट जाती है। एक दर्शन-विह्वल भक्त तो यहाँतक कहता है—

तुम्हें देखें तो फिर औरोंको किन आँखोंसे हम देखें।
ये आँखें फूट जाएँ गर्चं इन आँखोंसे हम देखें॥

ज्ञानी सुतीक्ष्णने जब राम-रूपका दर्शन किया, तब भगवान्‌के दिव्य रूपका वह जादू चला कि वे बेसुध हो गये। गोस्वामीजी उनकी दशाका वर्णन करते हुए कहते हैं—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥

अद्वैताचार्य श्रीमधुसूदन स्वामीको निर्गुण और निष्क्रिय ज्योति अब पसंद नहीं पड़ती; क्योंकि यमुनाके पुलिनपर उन्हें 'उस' नीली ज्योतिके दर्शन हो चुके हैं। वे अपनी मङ्गल-कामना व्यक्त करते हुए कहते हैं—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति॥

'ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनके द्वारा योगी यदि किसी निर्गुण और निष्क्रिय परम ज्योतिका साक्षात्कार करते हैं तो करें। हम तो जानते हैं कि यमुनाके तीरपर जो साँवली-सलोनी अनिर्वचनीय ज्योति दौड़ती रहती है, वही हमारी आँखोंमें चिरकालतक चमत्कार पैदा करती रहे।'

भक्त लीलाशुक तो पथिकोंको सावधान करते हुए कहते हैं—

मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या
दिगम्बरः कोऽपि तमालनीलः।
विन्यस्तहस्तोऽपि नितम्बबिम्बे
धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्॥

'ऐ राहियो! उस मार्गसे मत जाना। वह गली बहुत भयावनी है। वहाँ अपने नितम्ब-मण्डलपर हाथ रखे हुए तमालके समान साँवला-सलोना जो बालक खड़ा है, वह केवल देखनेमात्रका ही अवधूत है। वास्तवमें तो वह अपने पास होकर निकलनेवाले किसी भी राहीके मनरूपी धनको लूट लेता है।'

ज्ञानियोंपर ही नहीं, साधारण लोगोंपर भी भगवान‌्के दिव्य रूपका गहरा प्रभाव पड़ता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण और सीताजीके साथ वनवासके लिये चले जा रहे हैं। बीच-बीचमें छोटे-बड़े गाँव मिल जाते हैं। ग्रामवासी इन तीनों अयोनिजन्मा पथिकोंके सौन्दर्यसे कितना प्रभावित होते हैं, सुनिये—

एक कहहिं ए सहज सुहाए। आपु प्रगट भए बिधि न बनाए॥
देखहु खोजि भुअन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी॥
परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे॥
जौं जगदीस इन्हहि बनु दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा॥
(रामचरितमानस)

साधारण लोगोंकी ही बात नहीं, पशु और पक्षी भी भगवान‌्के अपरूप रूपको देखकर उसके शोभा-सिन्धुमें निमग्न हो जाते हैं। सबका मन मोहित हो जाता है—भगवान् सबके चित्तको चुरा लेते हैं—

खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिए चोरि चित राम बटोहीं॥
(रामचरितमानस)

पशुओं और पक्षियोंकी ही बात नहीं, कोई भी आँख-वाला प्राणी भगवान‌्का श्रीविग्रह देखकर आँखोंके पानेका फल पा लेता है और सहज ही शोक-मुक्त हो जाता है।

नयनवंत रघुबरहि बिलोकी। पाइ जनम फल होहिं बिसोकी॥
(रामचरितमानस)

गोपियाँ कहती हैं कि आँखवालोंके लिये श्रीकृष्ण और बलरामके दर्शनसे बढ़कर आँखोंके पानेका दूसरा कोई भी महान् फल नहीं है—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥
(श्रीमद्भागवत

'हे सखियो! हमने तो आँखवालोंकी आँखोंकी और जीवनकी सफलता इतनी ही मानी है—इससे अधिक हम कुछ नहीं जानतीं—कि जब श्यामसुन्दर और बलदेव ग्वाल-बालोंके साथ गौओंके पीछे-पीछे आ रहे हों—उनके अधरोंपर मुरली शोभा पा रही हो और वे प्रेममयी तिरछी चितवनसे हमारी ओर देख रहे हों, उस समय हम उनके मुख-सौन्दर्य-की सुधा पीती रहें।'

श्रीकृष्णके पास ब्राह्मणके द्वारा अपना संदेश भेजते हुए रुक्मिणीजी भी भगवान् श्रीकृष्णसे कहती हैं कि आपका रूप आँखवालोंके लिये आँखें पानेका सम्पूर्ण लाभ है। इसलिये मेरा चित्त निर्लज्ज बनकर आपमें ही रमण कर रहा है—

रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्रमपत्रपं मे।
(श्रीमद्भागवत)

भगवान् श्रीरामचन्द्र सेतु-निर्माणके बाद सेतुपर चढ़कर समुद्र पार कर रहे हैं। उनके रूपकी अनोखी और चोखी छटा निहारनेके लिये जलधरोंका जमघट लग गया है। जिधर देखिये उधर जलमें उतराये हुए जलचर-ही-जलचर दिखायी पड़ रहे हैं। समुद्रका पानी उनकी आड़में छिप गया है। कैसा मनोहर दृश्य है। देखिये—

देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा। प्रगट भए सब जलचर बृंदा॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे॥
तिन्हकीं ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरि रूप निहारी॥
(रामचरितमानस)

घोर राक्षस जातिके शत्रुओंपर भी इस दिव्य रूपका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। पञ्चवटीमें एक रामको चौदह हजार राक्षस आक्रान्त कर लेते हैं; किंतु जब भगवान् रामकी मोहिनी मूर्तिपर उनकी दृष्टि पड़ती है, तब उनकी नज़र ही बदल जाती है और वे ठक-से रह जाते हैं—चाहते हुए भी वे भगवान‌्पर अपने अस्त्र-शस्त्र नहीं चला पाते।

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी॥
(रामचरितमानस)

क्रूरहृदय खरदूषण अपने सचिवोंसे कहते हैं—

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥

हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखा नहिं असि सुंदरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा।
(रामचरितमानस)

भगवान् श्रीराम जब जनकपुर जाते हैं, तब तो प्रत्येक दर्शक उनके रूपको देखकर चकित हो जाता है—एक बार देखनेवालोंको हजारों बार देखनेकी ललक होती है—

जहँ जहँ जाहिं कुअँर बर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सबु कोऊ॥
(रामचरितमानस)

राजा जनकके दूत जब अयोध्या जाते हैं, तब राम और लक्ष्मणके लोकोत्तर सौन्दर्यका वर्णन राजा दशरथसे करते हैं—

देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ॥
(रामचरितमानस)

बात यह है कि भगवान्‌का श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है। इस बातको जाने तो कौन? समझे तो कौन? महामुनि वाल्मीकिजी रामजीकी प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥
(रामचरितमानस)

पण्डितराज जगन्नाथ अपने चित्तको समझाते हुए कहते हैं—

रे चेतः कथयामि ते हितमिदं वृन्दावने चारयन्
वृन्दं कोऽपि गवां नवाम्बुदनिभो बन्धुर्न कार्यस्त्वया।
सौन्दर्यामृतमुद्गिरद्भिरभितः सम्मोह्य मन्दस्मितै-
रेष त्वां तव वल्लभांश्च विषयानाशु क्षयं नेष्यति॥
(भामिनीविलास ४। १६)

'अरे चित्त! तुम्हारे हितकी बात कहता हूँ। वृन्दावनमें गायें चरानेवाले, नये-नये काले मेघकी-सी कान्तिवाले कन्हैया-को कहीं अपना बन्धु न बना लेना। वह सुन्दरताकी सुधा बरसानेवाली अपनी मन्द-मन्द मुसकानसे तुझे मोहित करके तेरे सभी विषयोंको शीघ्र ही नष्ट कर देगा।'

एक ज्ञानीकी फजीहत देखिये। वह बेचारा निर्गुण-निरञ्जनका चिन्तन कर रहा था, किंतु बरबस उसके ध्यानमें एक साँवला-सलोना गोप-कुमार आ जाता है। वह बेचारा उस कृष्णमूर्तिकी ओर आकर्षित हो जाता है। सच है, जादू वह जो सिरपर चढ़कर बोले। लाचार होकर वह ब्रह्मज्ञानी कहता है—

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
संचिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम्।
तावद् बलात् स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः॥

'जबतक मैं सारे संसारमें भासमान निर्गुण-निराकार ब्रह्मका चिन्तन करता हूँ, तबतक बलात् मेरे हृदयमें हाय! कोई अञ्जनकी ढेरीके समान काला-कलूटा मनोहर गोपकुमार प्रकट हो जाता है।'

कृष्णानन्दके सामने बेचारा ब्रह्मानन्द हार मान लेता है—घुटने टेक देता है। एक दूसरा ब्रह्मज्ञानी कहता है—

क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयं गते
यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम्।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते॥

'पाँचों प्रकारके क्लेशोंका क्रमशः क्षय हो जानेके बाद जो ब्रह्मसुख प्रकट हुआ, उसे व्यर्थ करता हुआ यह नराकार आनन्दकन्द श्यामसुन्दर हमारी आँखोंके आगे प्रकाशमान हो रहा है।'

कृष्ण-भक्त 'ठाकुर' तो साँवरी सूरतको छोड़कर गोरे रूपको निहारना भी नहीं चाहते। वे तैशमें आकर कह बैठते हैं—

बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरौ छाँड़ि निहारति गोरौ।

वन जाते हुए भगवान् रामको देखकर गाँवकी स्त्रियाँ भी उनके दिव्य रूपसे प्रभावित होकर कह उठती हैं—

आँखिन में सखि राखिब जोग, इन्हें किमि कै बनवास दियो है।
(कवितावली)

बड़े भाग्यसे यह साँवली-सलोंनी सूरत किसीकी आँखोंमें आकर बस जाती है। मैं भी यही चाहता हूँ कि मोहनकी वह मोहिनी मूर्ति मेरी भी आँखोंमें बस जाय, जिससे फिर मैं न तो किसी औरको देख सकूँ, न कोई दूसरा ही इस हृदय-हारिणी सूरतको देख पाये—

आ रे प्यारे मोहना, पलक मूँदि तोहि लेउँ।
ना मैं देखूँ और कों ना तोहि देखन देउँ॥

द्वारका, मथुरा एवं वृन्दावनमें भक्ति और भक्त-भाव*

(अनुवादक—श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल)

भारती—द्वारका, मथुरा एवं वृन्दावनमें क्या पार्थक्य है ?

बाबाजी—द्वारकामें सम्बन्धभक्ति अवश्य है, किंतु वह स्वकीया है। उसमें विधि है। अर्थात् रुक्मिणी, सत्यभामा आदि महिषियाँ 'स्वामी ही परम देवता हैं, उनके प्रति अश्रद्धा रखनेसे नरककी प्राप्ति होती है' आदि शास्त्रवाक्यानुसार श्रद्धा-पूर्वक श्रीकृष्ण-भक्ति करती रही हैं। इसी प्रकार वसुदेव-देवकी आदिकी 'वात्सल्य' तथा उद्धव आदिकी 'सख्य'-भक्ति रही है। द्वारकामें ऐश्वर्य-मिश्रित सम्बन्धभक्ति देखनेमें आती है। मथुरामें यद्यपि कुब्जा आदिकी भक्ति परकीया-रसको लेकर है, फिर भी वह सकाम और ऐश्वर्यमिश्रित भी होनेके कारण आदरणीय नहीं मानी जाती। व्रजमें निष्काम, निरैश्वर्य एवं अहैतुकी भक्ति मिलती है, जिसका श्रीकृष्ण-सुखके अतिरिक्त और कोई ध्येय नहीं था। व्रजवासी श्रीकृष्णसुखार्थ पृथ्वी एवं स्वर्गके भोगों, यहाँतक कि मोक्षको भी त्यागने तथा नरकादिकी यन्त्रणाओंको सुवासित शिरीष कुसुमवत् ग्रहण करनेमें भी कुण्ठित नहीं होते। इस विषयमें एक घटनाका उल्लेख करना आवश्यक है—

एक दिन देवर्षि नारदने द्वारका आकर देखा—श्रीकृष्ण महिषियोंके बीच विभिन्न क्रीड़ाओंमें मग्न हैं ! देखकर उनके मनमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताके सम्बन्धमें कुछ संदेह जाग्रत् हो गया। अन्तर्यामीने यह जानकर अपने ऐश्वर्यका प्रकाश किया। नारदने देखा—श्रीकृष्ण एक ही समय पृथक्-पृथक् सोलह सहस्र महिषियोंके साथ विभिन्न क्रीड़ाओंमें रत हैं। ज्ञान होनेपर नारदने मन-ही-मन श्रीकृष्णको प्रणाम किया और अपने अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना की। उन्होंने दृढ़ निश्चय किया कि द्वारकावासी जितने एकान्त भगवत्-परायण हैं, उतना और कोई नहीं है। श्रीकृष्णने सोचा—नारदकी इस भ्रमात्मक धारणाका संशोधन किये बिना काम नहीं चलेगा।

हठात् श्रीकृष्णको भीषण ज्वर हो आया। वे अत्यन्त व्याकुल होकर बार-बार कहने लगे—'ओह ! भीषण यन्त्रणा ! और अधिक सह्य नहीं ! प्राण जाते हैं ! सूर्यास्तके पश्चात् मेरा जीवन नहीं रहेगा।' सुनकर सभी घबरा गये। वेदनामें किसी प्रकारका भी अन्तर न देख नारदने पूछा—'प्रभो ! क्या करना चाहिये ?' श्रीकृष्णने उत्तर दिया—'यदि मेरी कोई प्रेयसी सानन्द अपनी चरणरज एवं चरणामृत दे सके तो मैं तत्क्षण स्वस्थ हो जाऊँगा, अन्यथा ·····।' सुनकर नारद बोले—'यह क्या बड़ी बात है। जो महिषियाँ आपके लिये प्राणतक दे सकती हैं, उनके लिये चरणधूलि एवं पादोदक देना क्या बड़ी बात है ?'

नारदने एक-एक करके रुक्मिणी, सत्यभामा आदि सभी महिषियोंसे श्रीकृष्णकी अभीष्ट वस्तुएँ माँगीं। सभीने साश्चर्य कहा—'स्वामी यह कैसी बात कह रहे हैं ! वे हमारे पति एवं परम गुरु हैं। उनको ये वस्तुएँ देकर क्या हम नरकमें गिरेंगी ? ऐसा कभी नहीं हो सकता।' नारदने उन्हें नाना प्रकारसे समझाया—'श्रीकृष्ण घोर यन्त्रणा भोग रहे हैं और स्पष्ट कह रहे हैं—सूर्यास्तके पीछे मेरा जीवन नहीं रहेगा; ऐसी दशामें तुम्हारा यह कर्म किसी प्रकार भी उचित नहीं।' फिर भी वे किसीको भी चरणरज आदि देनेके लिये राजी न कर सके। नारद अत्यन्त दुखी होकर मथुरा गये। वहाँ भी कोई इस कार्यके लिये प्रस्तुत न हुआ। हठात् नारदके मनमें आया—वृन्दावनमें तो श्रीकृष्णकी अनेक प्रेयसियाँ थीं, एक बार वहाँ जाऊँ तो सही ! परंतु वे मन-ही-मन सोचने लगे —'ये सब उनकी प्रधान प्रेयसियाँ हैं, जब इन्होंने ही चरणधूलि नहीं दी, तब वे गोपजातिकी होकर कैसे देंगी; किंतु एक बार जाकर तो देखूँ, संदेह तो मिट जायगा।'

नारदने वहाँ पहुँचकर देखा—सभी नर-नारी व्याकुल हैं, गौएँ ऊपरको मुख किये निहार रही हैं, वत्सगण मातृस्तन पान नहीं करते, पक्षीगण पके फलोंमें चोंच लगाये स्थिर होकर बैठे हैं। यह अवस्था देखकर नारद अवाक् हो गये।

गोपियाँ पूरी बात अभी सुनने भी न पायी थीं कि बोल उठीं— देवर्षि ! श्रीकृष्ण इतना कष्ट पा रहे हैं ! चरणामृत और रज देनेसे ही यदि वे स्वस्थ हो जायँ तो हम अभी देनेको प्रस्तुत हैं; जितना चाहें आप ले जायँ।

* श्रीयुत प्रेमानन्द भारती [illegible] श्रीधामपुरीके 'बड़े बाबाजी महाशय' के कथनोपकथनका हिंदी-भाषान्तर।

नारदने कहा—'उनको अपना चरणामृत देनेसे तुमको अपराध लगेगा। अपराध होनेसे तुम्हें नरकमें जाना पड़ेगा। तुम्हें इस बातका भय नहीं होता ?'

गोपियोंने कहा—'देवर्षि ! कृष्णसुखार्थ यदि नरक भी मिले तो वह स्वर्गकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है। कृष्णसुखको छोड़कर स्वर्ग-सुख भी नरक है ।' यह सब देख-सुनकर नारद अवाक् हो गये और मन-ही-मन उनके प्रेमकी सराहना करने लगे—

धन्य-धन्य व्रजवासी ! धन्य व्रजधाम !
कृष्णप्रेम हेतु तव धर्म-अर्थ-काम।
कृष्ण-हेतु सर्वत्याग अन्य कहीं नहीं,
अतएव कृष्ण-प्रेम-अवधि भी यहीं॥

यों कहते-कहते नारद गोपियोंकी चरणधूलि एवं चरणोदक लेकर द्वारका लौटे। दोनों वस्तुओंको शरीरसे लगाते ही श्रीकृष्णकी सारी यन्त्रणा दूर हो गयी। स्वस्थ होनेपर उन्होंने पूछा—'नारद ! चरणधूलि और चरणामृत कहाँसे लाये ?'

नारदने उत्तर दिया—'प्रभो ! व्रजसे।'

श्रीकृष्ण—'व्रजवासियोंका भाव कैसा देखा ?'

नारद—प्रभो ! मुझसे एक अपराध हो गया था, मैं आपके प्रेमकी दृष्टिसे व्रजवासियोंको तुच्छ समझकर द्वारकाको प्राधान्य देता था, किंतु अब समझा—

व्रजेर विशुद्ध प्रेम, लक्षवान येन हेम,
अन्यत्र नाहिक तार स्थिति।
अधिक रहुक दूरे, समान बलिये जारे,
सेहो नहे हेन मोर मति॥
कि आर बलिब प्रभु, हेन शुनि नाइ कभू,
नरक बलिया नाइ डरे।
तोमार सुखेर तरे, धर्माधर्म तुच्छ करे,
प्राण दिते पारे अकातरे।
प्रेमभक्ति बले जाहा, व्रजेते देखिनु ताहा,
धन्य धन्य धन्य व्रजजन।
वन्दौं दुइ कर जूड़ि, पुनः पुनः भूमे पड़ि,
व्रजवासीगणेर चरन।

(भावानुवाद) "व्रजका विशुद्ध प्रेम लाख बार तपाये हुए स्वर्णके सदृश है, जिसकी स्थिति (व्रजके अतिरिक्त) अन्यत्र नहीं है। व्रज-प्रेमसे अधिक किसीको कहना तो दूर रहा; मेरे मतमें तो उसकी समानता भी कोई वस्तु नहीं कर सकती। प्रभो ! मैं और क्या कहूँ, कोई नरकसे भी न डरे—ऐसा कभी देखा-सुना नहीं। आपके सुखके पीछे वे (व्रजवासी अथवा श्रीवृन्दावनवासी) धर्माधर्मकी भी चिन्ता नहीं करते—यहाँतक कि वे अपने प्राण भी अकातरभावसे दे सकते हैं। 'प्रेम-भक्ति' जिस वस्तुका नाम है, वह मैंने व्रजमें देखी। व्रजजनोंको धन्य है, धन्य है, धन्य है ! मैं दोनों हाथोंको जोड़कर, बार-बार भूमिपर गिरकर व्रजवासीगणके चरणोंकी वन्दना करता हूँ।"

तब श्रीकृष्ण सानन्द व्रजवासियोंका गुण-गान करने लगे, जिसे सुनकर नारद एवं अन्यान्य द्वारकावासी अपनी हीनता अनुभव कर अत्यन्त लज्जित हुए। वस्तुतः व्रजवासियोंकी निष्काम भक्ति अपूर्व है।*

श्रीयमुनाजीकी महिमा

पायक कौं पिय प्रेम प्रदायिनि, प्यारे पिया मन मोद बढ़ावनि।
स्नान औ पान करैयनि कौं निज तीर निकुंज निवास करावनि॥
कान परै जिन के मधुर ध्वनि, त्यौं ही सुधा सम ताप नसावनि।
कामदुघा सी मनोरथ पूरनि स्याम नदी घनस्याम मिलावनि॥

* श्रीवृन्दावन और व्रजका एक ही अर्थ है।

राम-भक्त मारीच

(लेखक—डा० श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी, एम्० ए०)

भगवान् रामके चरित्रके साथ मारीचका बहुत निकट सम्बन्ध है। न सीताजी उसकी स्वर्ण-देहपर मोहित होतीं, न राम उसका वध करनेके लिये जाते और न रावणका संहार ही होता। बहुत दिन पहले, महर्षि विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करते समय रामके बाणका स्पर्श उसको प्राप्त हुआ था। परंतु उस समय उसके प्राणोंकी रक्षा हो गयी। रघुपतिका अमोघ बाण लग जानेपर भी वह जीवित बना रहा था, केवल राम-कथाको आगे बढ़ाये रखनेके लिये—रामको रावणके पासतक ले जानेके लिये, रामकाजके लिये।

रामका चरित्र लोक-मानसका आदर्श चरित्र है। उसमें हमारे जीवनकी सहज दुर्बलताओंके सजीव चित्रणद्वारा हमारी वृत्तियोंको ऊर्ध्वगामी बनानेकी प्रेरणा है। रामका यह समझ लेना कि सुवर्णका भी हरिण हो सकता है, हमारे जीवनके उस पक्षकी ओर संकेत करता है, जब कि कुसमय उपस्थित होनेपर हमारी विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है, अनेक सहज भ्रान्तियोंको हम सत्यरूप स्वीकार कर बैठते हैं। स्वर्ण-हरिणके पीछे दौड़नेके पहले क्या रामको कभी भी यह विश्वास हुआ होगा कि सुवर्णका भी हरिण हो सकता है। परंतु बलिहारी है उस कुसमयकी, जिसने बुद्धिमें ऐसा फेर उत्पन्न कर दिया कि 'धाए रामु सरासन साजी', और सोचनेवाले सोचने लगे—

निगम नेति सिव ध्यान न पावा। मायामृग पाछें सो धावा॥

श्रीरामके चरित्रका यह पक्ष लोकजीवनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। जब जैसी घटनाएँ घटित होनेको होती हैं, तब बुद्धि भी वैसी ही हो जाती है। हमारी आँखोंपर पर्दा पड़ जाता है और हम हित-अनहितके विभेदको विस्मृत कर बैठते हैं।

लोककी दृष्टिमें मारीच छल-कपटका प्रतीक है। परंतु भगवान् रामने उसको अपने धाममें स्थान दिया और उसकी मृत्युके समय देवताओंने उसके ऊपर पुष्पवर्षा की थी—

बिपुल सुमन सुर बरषहिं गावहिं प्रभु गुन गाथ।
निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ॥

भगवान्‌ने ऐसा क्यों किया? केवल उसके वास्तविक प्रेमके कारण, अन्तःप्रेमके कारण। भगवान् यदि अन्तरकी बात न जानें तो उन्हें अन्तर्यामी कौन कहे? भगवान्‌ने जिसका भी वध किया, उसको अपना धाम प्रदान किया, उसको मुक्तिका अधिकारी बनाया; क्योंकि उनकी दृष्टि नाम-रूपसे परे सर्वव्याप्त जीवनतक पहुँचती है। उनकी दृष्टि आकारकी सीमाओंसे आबद्ध न रहकर प्राणी-मात्रमें अविच्छिन्नरूपसे व्याप्त जीवन-धाराका दर्शन करती है। मारीचकी हृदयस्थ जीवन-धारा निर्मल थी। श्रीरामकी सूक्ष्म-दर्शिनी दृष्टि उस निर्मलताको स्पष्ट देख सकी थी। तभी तो—

अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना॥

यहाँ यह निवेदन करना परम आवश्यक है कि 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'सुजाना' शब्दका प्रयोग बाईस बार हुआ है। गोस्वामीजीने रामके अतिरिक्त इस शब्दका प्रयोग उन विभिन्न व्यक्तियोंके लिये किया है, जो रामके महत्त्वको समझते हैं, उनके स्वरूपको समझते हैं। भरद्वाज, परशुराम, शिव, अवधवासी, इन्द्र, रन्तिदेव, दशरथ, भरत, सुतीक्ष्ण और राम-कथा-गायक काकभुशुण्डि—इनमें प्रमुख हैं। जो लोग काव्य और कविताके वास्तविक स्वरूपको समझते हैं, वे भी 'सुजान' हैं; क्योंकि कविताका कल्याणकारी स्वरूप रामभक्तिसे परिव्याप्त रहता है। यथा—

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहइ सुजाना॥

× × ×

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥

शङ्का होना स्वाभाविक है कि कहाँ भायप-भगतिसे भरे 'भरत' और भक्तिके मूर्तिमान् स्वरूप सुतीक्ष्ण और कहाँ असुर मारीच? राम भेद-भावसे परे होकर सबको मोक्ष प्रदान करते रहें, यह एक बात है, परंतु 'सुजान' कहकर मारीचको भक्तोंकी कोटिमें रख देना कहाँतक न्यायसङ्गत है!

श्रीरामके प्रति भरतकी अनन्य भक्ति लोकविदित थी। शत्रु भी उनकी राम-भक्तिके प्रति संदेह नहीं कर सकते थे—

भरत नीति रत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना॥

भरतकी सुजानताका आभास हमको चित्रकूटकी सभामें प्राप्त होता है। उनकी भक्तिके प्रवाहमें वसिष्ठ मुनि-जैसे

तपस्वीकी बुद्धि बहती हुई दिखायी देती है । भरत रामके सम्मुख पाँच प्रस्ताव प्रस्तुत करते हैं । विशेषता यह है कि पाँचोंमें भरतके वन-गमनका विकल्प है । अन्तमें वे यह भी कह देते हैं कि जग-मङ्गलका एक ही उपाय है—आपकी आज्ञाका पालन ।

प्रभु पद सपथ कहउँ सति भाऊ । जग मंगल हित एक उपाऊ ॥
प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देव ।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब ॥

काकभुशुण्डिने मुनि-दुर्लभ गति प्राप्त की; क्योंकि वे 'सुजान' थे । उनके सुजान होनेका रहस्य यह है—

निज प्रभु दरसन पायउँ गए सकल संदेह ।

अगस्त्य मुनिके शिष्य सुतीक्ष्णके 'सुजान' होनेका रहस्य यह है कि वे मन, वचन, कर्म—सब प्रकारसे रामकी रतिको प्राप्त थे । उनकी गति राममें थी, उनकी मति राममें थी और उनकी रति केवल रामके प्रति थी, यथा—

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना । नाम सुतीछन रति भगवाना ॥
मन क्रम बचन राम पद सेवक । सपनेहुँ आन भरोस न देवक ॥

× × ×

फलतः उन्होंने जीवनका चरम फल प्राप्त किया—मुँहमागा वरदान पाया—

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम ।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम ॥

रामके प्रति मारीचका अनुराग भी वस्तुतः इसी कोटिका था । उसके राम-प्रेममें कहीं भी त्रुटि न थी—

अस जिय जानि दसानन संगा । चला राम पद प्रेम अभंगा ॥

रामके चरणोंके प्रति अभंग प्रेममें आकण्ठ निमग्न मारीचसे मृत्युका भय कोसों दूर था । उस क्षण उसको राम-दर्शनका उत्साह था । उस उत्साहमें, उस आनन्दातिरेकमें वह फूला नहीं समाता है । कहीं ऐसा न हो कि उसके राम-प्रेमको देखकर रावण उसे रोक ले ! बस—

मन अति हरष जनाव न तेही । आजु देखिहउँ परम सनेही ॥

मन, वचन और कर्मसे रत होना ही अभंग प्रेमका लक्षण है । यही अनन्यभक्तिका स्वरूप है । सुतीक्ष्णकी राम-भक्ति इसी कोटिकी थी, मारीचकी रामके प्रति रति भी इसी कोटिकी है । देखिये—

निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं ।
श्री सहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं ॥
निर्बान दायक क्रोध जा कर भगति अवसहि बसकरी ।
निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी ॥

अनन्य भक्त मारीचके मनोराज्यकी एक झाँकी जो देख लेगा, वही कृतकृत्य हो जायगा—

मम पाछें धर धावत धरें सरासन बान ।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ धन्य न मो सम आन ॥

उसके इस प्रेमके वशीभूत होकर भगवान् उसके पीछे दौड़ने लगते हैं । वे ही भगवान् जिनके स्वरूपका निरूपण वेद 'नेति-नेति' कहकर करते हैं, वे ही भगवान् जो विधि-हरि-शम्भुको कठपुतलीकी भाँति नचाते हैं, वे ही भगवान् जिनका गुणगान करते हुए नारद और शारदा थकते नहीं, वे ही भगवान् जिनका दर्शन तपस्वियों और ऋषियोंको दुर्लभ है और वे ही भगवान् जिनकी स्तुति करनेके लिये देवता तरसते रहते हैं । सचमुच मारीचके समान भाग्यवान् अन्य कौन हो सकता है ?

मरते समय बड़े-बड़ोंका विवेक नष्ट हो जाता है—

जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं ॥

परंतु धन्य है मारीच ! अन्त समय भी उसके मनमें रामका ध्यान था और मुखपर रामका नाम था—

लछिमन कर प्रथमहिं लै नामा । पाछें सुमिरेसि मन महुँ रामा ॥
प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा । सुमिरेसि रामु समेत सनेहा ॥

उसने छल-कपट छोड़ दिया, वह अपने अहंकार एवं दम्भको त्यागकर अपने वास्तविक रूपमें भगवान्के सम्मुख प्रकट हो गया । भगवान्के सम्मुख आत्मसमर्पण ही जीवनका चरम साध्य है । संसारोपयोगी छल-कपटको त्यागकर उस ओर उन्मुख होनेका नाम ही भगवान्की ओर प्रवृत्त होना है । इस ओर प्रवृत्त श्रेष्ठजनको स्वयं भगवान्ने यह आश्वासन दिया है—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

मारीचने अपने छल-कपटका भी त्याग किया और प्रेमसहित भगवान्का स्मरण भी किया । पहले वह भयवश भगवान्का स्मरण करता था—

मुनि मख राखन गयउ कुमारा । बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा ॥
सत जोजन आयउँ छन माहीं । तिन्ह सन बयरु किएँ भल नाहीं ॥
भइ मम कीट भृंग की नाई । जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई ॥

अब प्रेमवश उनके सामीप्यकी कामना करता है । अन्त-

समय उसने लक्ष्मणको बाहर निकालकर केवल रामके स्वरूपको ही हृदयमें धारण किया—

लछिमन कर प्रथमहिं लै नामा। पाछें सुमिरेसि मन महुँ रामा॥

जिसने यह कर लिया, उसने सब कुछ पा लिया। भगवान् अन्तर्यामी हैं, उन्होंने 'अन्तर प्रेम तासु पहिचाना'; और उसको मुनि-दुर्लभ गति प्रदान कर दी।

निःश्रेयस-प्राप्तिके उपलक्ष्यमें सबने उसका गुण-गान किया, उसको बधाई दी और उसके प्रति सम्मान प्रकट किया—

बिपुल सुमन सुर बरषहिं गावहिं प्रभु गुन गाथ।
निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ॥

रामको केवल प्रेम प्यारा है। मारीचको राम प्यारे थे। इस कारण रामको मारीच प्यारा था।

आचार्य स्वामी प्रणवानन्दजी और साधनमार्गमें भक्तका विचार

(लेखक—श्रीस्वामी त्यागीश्वरानन्दजी)

पूर्वप्रकाशित 'कल्याण'के विशेषाङ्क 'भक्तचरिताङ्क'में 'स्वामी प्रणवानन्दजी' शीर्षक एक प्रबन्ध प्रकाशित हो चुका है। उसमें उनके दिव्य जीवनके सम्बन्धमें सामान्यतः कुछ व्यक्त किया गया था। इस प्रबन्धमें आज मैं, उनकी भागवत-जीवनके क्षेत्रमें भक्ति-साधनाके पथपर चलनेवालोंके लिये जो महान् देन है, साधकोंके कल्याणार्थ उसीकी आलोचना करूँगा। अध्यात्ममार्गके पथिकोंकी जीवन-धाराको सरलपथमें ले जानेके लिये मार्गद्रष्टारूपसे उन्होंने अपने साधनपूत जीवनमें आचरणके द्वारा जो महान् आदर्श हमारे सामने उपस्थित किये हैं तथा भक्तोंको जो अमृतोपदेश और कल्याणमयी वाणी सुनायी है, उससे अनुरागी और निष्ठावान् भक्तोंको अनुप्रेरणा प्राप्त होती है। उन आदर्शोंको आचरणके द्वारा जीवनमें उतारनेपर आत्मकल्याणकामी तत्त्व-जिज्ञासु साधक अभ्युदय और निःश्रेयसके पथपर अग्रसर होनेमें समर्थ हो सकते हैं। श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
(१२। ३-४)

'सब भूतोंमें समदृष्टि रखनेवाले लोग जो इन्द्रियोंको सम्यक्रूपसे निरुद्ध (विषयोंसे विमुख) करके इन्द्रियातीत, असीम, सर्वव्यापी, मनके भी अगोचर तथा कूटस्थ (मायाके द्वारा प्रसारित जगत्के अधिष्ठाताके रूपमें अवस्थित) जगत्के विकारमें स्वयं निर्विकार और नित्य (ह्रास-वृद्धि-हीन) परब्रह्मकी आराधना करते हैं, वे मुझ (सच्चिदानन्दविग्रह)-को प्राप्त होते हैं।'

नित्य, निर्विकार, निरुपाधि, इन्द्रियातीत परब्रह्मकी आराधनाके लिये साधक अपनी इन्द्रियोंको संयत करे। भूतमात्रमें समदर्शीभाव जाग्रत् करे। यही इस श्लोकमें गीताकारने व्यक्त किया है। भागवतजीवनके लिये प्रथम सोपानपर आरोहण करनेवाले पुरुषको आचार्य स्वामी प्रणवानन्दने अध्यात्म-अनुशीलनके यथार्थ तात्पर्यकी व्याख्या करके शुद्ध, पवित्र और नैतिक जीवन बितानेका उपदेश दिया है। उनके मतसे त्याग, संयम, सत्य और ब्रह्मचर्यका अनुशीलन ही धार्मिक जीवनकी प्राप्तिका मूल है। इस महान् आदर्शकी अत्यन्त प्रयोजनशीलताके सम्बन्धमें सारे मत और पथावलम्बी एकमत हैं तथा सभी ब्रह्मचर्य और संयमकी साधनाकी महिमाका मुक्तकण्ठसे गान करते हैं। शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिके संचयमें इसकी उपयोगिता अनिवार्य है। आचार्य स्वामी प्रणवानन्दजीने विद्यार्थी और विरक्त लोगोंको अटूट ब्रह्मचर्य-पालनका तथा गृहस्थको संयत जीवन बितानेका उपदेश दिया है। वे कहा करते थे कि साधकको त्याग, संयम, सत्य और ब्रह्मचर्यकी ज्वलन्त जीवन्त प्रतिमूर्ति बननेकी आवश्यकता है।

स्वामीजीके वचन हैं—'जो इन्द्रियोंकी ताड़नासे, काम-क्रोधरूप भीतरी शत्रुओंकी उत्तेजनासे उत्पीडित हैं, कामना-वासनाकी ज्वालासे दग्ध हो रहे हैं, ऐसे मन और बुद्धिको लेकर यदि कोई धर्मभावनाको विकसित करना चाहता है, उसे पागलके सिवा और कुछ नहीं कह सकते। जहाँ इन्द्रिय-रूपी प्रबल शत्रुओंके ऊपर किसी प्रकारके नियन्त्रण या संयम-शक्तिका प्रभाव नहीं है, वहाँ किसी प्रकारका धर्मका प्रभाव नहीं रह सकता। जो लोग वीर्यधारण और इन्द्रिय-निग्रहके द्वारा मनुष्यत्वकी साधनामें लगे हैं, वे मुझे मेरे प्राणों-

से भी प्रिय हैं।' श्रीमद्भागवत तथा गीतामें अनेक स्थलोंपर स्वयं भगवान्ने इन्द्रियसंयमकी बारंबार प्रशंसा की है। शिवसंहितामें कहा गया है—

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं परं तपः।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः॥

'तपको तप नहीं कहा जाता, ब्रह्मचर्य ही उत्तम तप है। जो ऊर्ध्वरेता हो जाता है, वह मनुष्य नहीं, देवता है।'

स्वामीजीने जीवमात्रको शिव मानकर उनकी सेवा करनेका आदर्श अपने जीवनमें आचरणके द्वारा उपस्थित किया है। वे सबके प्रति समदर्शी थे, वे ऊँच-नीचका भेदभाव नहीं रखते थे। आगे चलकर उनके आदर्शसे अनुप्राणित भारत-सेवाश्रम-संघके संन्यासी कार्यकर्त्ताओंने आपामर सर्वसाधारण देशवासियोंकी सेवामें लगकर भारतीय संस्कृतिके महान् आदर्श सेवावादको उज्ज्वल रूप प्रदान किया है।

श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवने कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'जो अपनेको तृणसे भी नीचा मानता है, वृक्षके समान सहनशील है, अमानी होकर मान देता है, उसके द्वारा हरि सदा कीर्तनीय हैं।'

भक्त साधकके लिये ये गुण अपरिहार्य हैं। आचार्य स्वामी प्रणवानन्दजी कहते हैं—'आज्ञापालन, परस्पर प्रीति और श्रद्धा, अकृत्रिम विनय और असीम सहिष्णुता, सबके प्रति उदारता और पवित्रता—ये ही संघ-संतानोंके लिये अत्यन्त काम्य और पूर्ण कल्याणप्रद गुण हैं।' उन्होंने श्वास-प्रश्वासमें नाम-जप करनेका निर्देश दिया है। वे कहा करते थे, 'खूब जप-ध्यान करो, इसके बिना चित्त शुद्ध नहीं होता। चित्त-शुद्धिके बिना ज्ञान नहीं हो सकता। शुद्ध ज्ञानके बिना कभी धर्मभावना विकसित नहीं होती। जैसे कर्म करो, वैसे ही ध्यान-जप भी करो। दैनिक नियमित संख्या रखकर जप करना चाहिये और यह संख्या प्रतिदिन कुछ-न-कुछ बढ़ानी चाहिये।' क्योंकि जहाँ भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन होता है, वहीं उनका विशेष अधिष्ठान होता है। विभिन्न शास्त्रों और पुराणोंमें नामकी अनन्त महिमा वर्णित है।

श्रीभगवान् नारदसे कहते हैं—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

इस उद्देश्यसे स्वामीजीने भक्त साधकोंके मनकी पवित्रता बनाये रखनेके लिये श्वास-प्रश्वासमें नाम-जप करनेका उपदेश दिया है। नाम-जप जहाँ एक ओर मथनशील, बलवद् दृढ़, चञ्चल मनको धीरे-धीरे संयत करता है, उसी प्रकार इसके द्वारा मन और प्राण सरस और भक्तियुक्त हो उठते हैं? तथा नाम-जपकी शक्तिके प्रभावसे जन्म-जन्मान्तरकी संस्कार-राशि विनष्ट हो जाती है। नाम-जपके द्वारा इन्द्रियाँ संयत होती हैं और काम-क्रोधादि रिपु-कुलका शमन होता है।

भगवान्की पूजा-अर्चना, नाम-रूप-ध्यान और उनका गुणगान तथा यश-कीर्तनके साथ उन्हें आत्मनिवेदन करना भी साधकका एक विशेष गुण है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

समस्त धर्म-कर्म आदिका परित्याग करके एकमात्र उनके अभय चरणोंकी शरण ग्रहण करने, पूर्ण हार्दिक प्रेम, स्नेह-भक्तिके द्वारा उनकी पूजा करने, उनके महाभावमें सराबोर होकर आत्मलीन होने, उनके प्रति आत्मनिवेदन करनेपर वे अपने भक्त साधकका अपनी अहैतुकी कृपाके बलसे माया-मोह, पाप-तापसे उद्धार कर देते हैं। स्वामीजी कहते हैं—'मनको सदा गुरुमुख करके रखनेसे थोड़े ही समयके भीतर धर्म-जीवनके अनेक रहस्य प्रकट हो जायँगे। मन और प्राणको इष्ट देवतामें डुबा दो, समस्त पाप-ताप-दुर्बलताएँ दूर हो जायँगी।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२। ६-७)

जो साधक श्रीभगवान्के चरणोंमें सारे कर्मोंका फल समर्पण करके, तद्गत-चित्त होकर उनकी आराधनामें अपनेको लगा देता है, वे शीघ्र ही उसका त्रितापतप्त अवस्थासे उद्धार कर देते हैं। स्वामीजी कहते हैं—'तुम जिसके शरणागत, शरणापन्न हुए हो, उसके ऊपर दृढ़ विश्वास, अचल भक्ति और पर्याप्त निर्भरता रखे बिना तुम्हारे लिये महामुक्तिका पथ सुगम न होगा। श्रद्धा, भक्ति, विश्वास और निर्भरता ही तुम्हारे धार्मिक जीवनकी, नाना प्रकारके पाप-ताप, माया-मोह, भ्रम-भ्रान्तिसे रक्षा करेगी। निर्णीत और निर्धारित मार्गपर चलनेके लिये प्राणपणसे चेष्टा करो। तभी तुम जिनके शरणागत और

शरणापन्न हुए हो, उनकी शुभ दृष्टि और शुभाशीर्वाद प्राप्त करके महान् आनन्दमय मुक्ति-पथपर अग्रसर हो सकोगे।'

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
> निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
> संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
> (गीता १२। १३-१४)

किस प्रकारका भक्त भगवान्‌को प्रिय होता है, यही बात उपर्युक्त श्लोकोंमें कही गयी है। जो सब भूतोंमें समदर्शी है, अर्थात् उत्तम जनोंके प्रति द्वेष-शून्य है, समानके प्रति मित्र-भावापन्न तथा दीनके ऊपर कृपालु है और ममता-शून्य है, अहंकाररहित है, दूसरोंके सुखमें सुखी और दुःखमें दुखी रहता है, क्षमाशील है, लाभ और अलाभमें सदा संतुष्ट रहता है, समाहित-चित्त है, मनको संयत रखनेवाला, भगवान्‌में दृढ़ निश्चय रखनेवाला और उन्हें आत्मसमर्पण करनेवाला है— इस प्रकारका भक्त ही भगवान्‌को प्रिय होता है। स्वामी प्रणवानन्दजीने साधक-जीवनमें कल्याण-पथका निर्देश करते हुए जीवके प्रति प्रेम-प्रीति और सहानुभूति रखनेकी शिक्षा दी है। उनका सेवामय सुशीतल हस्त सबके ऊपर समान भावसे प्रसारित होता था। उनके धर्माचरणमें अपूर्व परमत-सहिष्णुता थी, किसीके भी प्रति द्वेष, हिंसा या अहितकर भावका वे अपने हृदयमें पोषण नहीं करते थे।

केवल जन-हितैषणा ही उनके जीवनका व्रत हो, ऐसी बात नहीं थी। दूसरे मूक जीव-जन्तुओंके प्रति भी उनकी असीम करुणा थी। उनके जीवनकी दो-एक घटनाओंका यहाँ उल्लेख किया जाता है। आचार्यदेवकी बाल्यावस्थाकी बात है। अपने बागके पश्चिम ओर किसी कारणवश जाकर वहाँ उन्होंने एक गोह देखी। वह गोह मृतप्राय पीड़ित अवस्थामें पड़ी थी। इससे उनके बालहृदयमें करुणाका उद्रेक हुआ। वे इस चिन्तासे व्याकुल हो उठे कि किस प्रकार गोहको बचाया जाय। पहले भोजन देनेकी बात उनके मनमें उठी। दोपहरके बाद जब सब लोग भोजन करके विश्राम करने लगे, तब चुपकेसे वे कुछ खाना और पानी लेकर गोहके पास पहुँचे। इस प्रकार कई दिन बीत गये। अचानक उनके एक बालक साथीने इसे देख लिया। उन्होंने उसको भली-भाँति समझा-बुझाकर अपने इस कार्यमें सहायक बना लिया। तत्पश्चात् जबतक वह गोह स्वस्थ होकर अन्यत्र चली नहीं गयी, तबतक इसी प्रकार उसकी सेवा और परिचर्या करते रहे।

छात्रावस्थाके बाद युवावस्थामें आचार्य भावोन्मेषके समय भी नियमित गोसेवा करते देखे गये।

स्वामीजी महाराज संयतचित्त थे। वे संयम-साधनाकी मूर्ति थे। संकल्पकी दृढ़ता और प्रखर बुद्धिमत्ता प्रकट होती थी उनके भागवत जीवनकी उदग्र तपस्यामें। वे कहते थे कि संकल्पमें और दृढ़ प्रतिज्ञामें जो अविचलित रहते हैं, कोई भी सिद्धि उनके लिये दुर्लभ नहीं होती। संकल्प भङ्ग होनेके पूर्व प्राण निकलनेको आतुर हो उठें—ऐसी व्याकुलता होनी चाहिये। जीवनके प्रत्येक कार्यमें उन्होंने संकल्पकी दृढ़ता प्रदर्शित की है।

अहंकार साधकके जीवनमें पतनका मूल कारण होता है। प्रतिष्ठा शूकरकी विष्ठाके समान है—इसका उल्लेख उन्होंने अनेक स्थानोंपर किया है लोक-कल्याणके लिये। सेवा-बुद्धिसे निष्काम कर्म करनेकी प्रवृत्ति उनके जीवनके प्रत्येक कार्यमें दीख पड़ती है। उन्होंने मुमुक्षु साधक और भक्तकी आत्म-शक्तिको जाग्रत् करके आशाकी वाणी सुनायी—'यश, मान और प्रतिष्ठाको कुचलकर, अहंकार और अभिमानको चूर-चूर करके, प्रशान्त सुमेरुके समान धीर, स्थिर और अविचलित रहकर, समग्र नीरस प्राणको सरस बनानेके लिये, संतप्त प्राणको सुशीतल करनेके लिये, आत्मविश्वासके बलसे बली होकर, आत्मनिर्भरताका आश्रय लेकर विशेषरूपसे तैयार हो जाओ। भूल जाओ भीतरके रिपुओंकी उत्तेजनाको, इन्द्रियोंके उत्पीड़नको; बिसार दो पाप-ताप, आधि-व्याधिको; पकड़ लो विवेक और वैराग्यकी पैनी तलवारको; काटकर फेंक दो सारे माया-मोह, भ्रम-भ्रान्ति आदि कुसंस्कारोंके जालको। इस प्रकार नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव होकर परित्राण करो पतितका, आश्रय दो निराश्रयको, सुख-शान्ति-सान्त्वना दो संतप्तको।'

साधन-जीवनमें नाना प्रकारकी दुर्बलताएँ और खिन्नता आकर साधकके तपोमय जीवनकी अग्रगतिको रोक देती हैं। भक्त साधकको अचल निष्ठाके साथ कर्तव्य कर्ममें प्रीति करके, महामुक्तिके पथका व्रती बनानेके लिये स्वामीजीके तपोलब्ध सिद्धान्त अमृत-तुल्य रसायन हैं। स्वामीजीके मतानुसार आत्मतत्त्वकी प्राप्ति ही जीवनका चरम लक्ष्य है तथा त्याग, संयम और ब्रह्मचर्य ही धर्म-साधनके मूल हैं। वे आत्म-

विस्मृतिको महामृत्यु तथा आत्मबोध, आत्मस्मृति और आत्मानुभूतिको यथार्थ जीवन बतलाकर आत्मविस्मृतिका निषेध कर गये हैं। और वीरता, पुरुषार्थ, मनुष्यत्व और मुमुक्षुत्वको मानव-जीवनका महापुण्य तथा दुर्बलता, भीरुता, कातरता, संकीर्णता और स्वार्थपरताको महापाप बतला गये हैं। उनके मतसे समस्त कार्योंमें धर्मस्थिरता और सहिष्णुता ही महाशक्ति है। आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और आत्ममर्यादा साधकके जीवनके महासंबल हैं। तथा आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, जडता, आन्तरिक षड्रिपु और इन्द्रियाँ—इनको 'पाप' कहकर इनसे पिण्ड छुड़ानेका आदेश स्वामीजीने दिया है। उत्साह, उद्यम और अध्यवसाय भक्त-साधकके परम मित्र हैं।

श्रीरूपकलाजीकी भक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीजयरामदेवजी)

विश्व-विख्यात भक्तमाल-तिलककार श्रीरूपकलाजीका जन्म वि० संवत् १८९७ में हुआ था। ये डिप्टी इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्सके पदपर काम करते हुए तीन सौ रुपये मासिक पाते थे; किंतु अपनी सारी आय आप भगवान्‌की सेवा तथा संत-सेवामें लगा देते थे। फलतः आपपर सर्वदा ऋण ही बना रहता था। श्रीरामानन्दीय सम्प्रदायके प्रसिद्ध महात्मा श्रीरामचरणदासजीसे आपने दीक्षा ली थी। गृहस्थाश्रममें ही आपने इतना मूल्यवान् साधन किया कि आपको श्रीरामजीके दिव्य दर्शन होने लगे। श्रीसीतारामजीकी सखीका भाव धारणकर आपने सखी-स्वरूपकी सिद्धि प्राप्त कर ली थी। आप ध्यान-भावनामें इतने तन्मय हो जाते थे कि नौकरीके समय इनके बदलेमें इनका रूप धारणकर भगवान्‌ने तीन बार कार्य किया और एक ही समयमें दो स्थानोंपर ये पाये गये। सन् १८९३ ई० में पेन्शन होनेपर आपने अयोध्या आकर चालीस वर्षतक अखण्ड भजन किया।

आपके द्वारा लाखों भक्त बने। 'अखिलभारतीय श्रीरूपकला-हरिनाम-यश-संकीर्तन सम्मेलन' का आपकी ही प्रेरणासे श्रीगणेश हुआ; जिसके द्वारा कीर्तनका देशमें महान् प्रचार हुआ। आपकी भक्तिमयी मूर्तिका दर्शन करते ही कैसा भी नास्तिक नतमस्तक हो जाता था। आपके हृदयमें भगवद्दर्शनके लिये प्रबल विरह-वेदना भरी रहती थी। आँखोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होती रहती। आप कहा करते थे—

> जब लगि मन नाहीं मस्त, तनहू नहिं जरि जात।
> तब लगि मूरति स्याम की, सपनेहूँ न लखात॥

कभी-कभी रात्रिमें एकान्त मन्दिरमें वे गीत गाते एवं नूपुर बाँधकर नृत्य करके भगवान्‌को रिझाते। कभी मीठी-मीठी बातें ऐसे घुल-मिलकर करते; जैसे विदेशसे लौटे प्रिय पतिसे तरुण पत्नी वार्तालाप करती है। वे कहा करते थे कि "भगवान्‌से नित्य मिलन चाहो तो 'बतियाव योग' सीखो। एकान्तमें ध्यानद्वारा अथवा प्रभुकी मूर्ति या चित्रके सम्मुख बैठकर उन्हें अपने हृदयकी सब बातें सुनाना ही 'बतियाव योग' है।" इस योगकी बड़ी महिमा वे बताते थे। सूक्ष्म-रूपमें 'परम विरहासक्ति' ही उनका प्रधान साधन था। वे गाया करते थे—

> सखि ! मोहि केते दिन तलफत बीते,
> सुधि न लीन्हि पिय बिरहिन हिय की।
> आह धुवाँ मुख हिय बिरहागी,
> ठाढ़ी जरौं जैसे बाती दिय की॥

अब हम संक्षेपमें उनके कुछ उपदेशोंको यहाँ देते हैं। इन वचनोंमें बड़ा प्रभाव है—

श्रीरूपकला-वचनामृत-संग्रह

(१) सावधान रहकर कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

(२) श्रद्धा-विश्वास ही परमार्थकी पहली सीढ़ी है। अटूट अध्यवसायके साथ ईश्वर-प्राप्तिके लिये बढ़ो तो भगवान् अवश्य कृपा करते हैं।

(३) एकनिष्ठ होनेसे ही कार्य सधता है, तब मनुष्य देव-कोटिमें पहुँचता है। सच्चा प्रेम देखकर भगवान् साधकको अपनी ओर आकृष्टकर अपना निज जन बना लेते हैं।

(४) जिसे आत्मोन्नतिकी लगन लग जाती है, उससे कुमार्ग-कुकर्म आप-ही-आप छूट जाते हैं। उसे परोपकार प्रिय लगने लगता है। उसकी चेष्टा यही रहती है कि जिस संसारमें उसका जन्म हुआ है, वह दिन-प्रतिदिन उन्नतिकी ओर अग्रसर हो।

(५) परमार्थकी दूसरी सीढ़ी है—अपने प्रिय परमात्माके साथ अनन्यतापूर्ण तन्मयता । चाहे आकाश टूटकर गिर जाय, वह सच्चे सेवकको प्रभुसे अलग नहीं कर सकता । वह अपने प्रभुके लिये जान हथेलीपर लिये फिरता है । उसका मन पूर्ण वैराग्यसे भर जाता है । खाना, पीना, श्वास लेना भी उसे अच्छा नहीं लगता, यदि उनके कारण प्रियतम पलमात्रके लिये भी बिछुड़ता हो ।

(६) श्रीहनुमान्‌जीको केवल एक श्रीरामकी चिन्ता थी । उनका सारा बल था श्रीरामके लिये । अपनी एकांगी भक्ति-भावके बलसे ही वे एक कुलाँचमें समुद्र लाँघ गये थे ।

(७) भक्ति-भावको दृढ़ करना और इन्द्रिय-सुखकी वासनाओंको दमन करना प्रत्येक जीवका कर्तव्य है ।

(८) प्रत्येक मुहूर्तमें साधकको यह विचार करते रहना चाहिये कि मेरा समय कहीं आलस्यमें तो नहीं नष्ट हो रहा है, परमात्माके चिन्तनके अतिरिक्त कोई दूसरी चिन्ता तो नहीं सता रही है ।

(९) ईश्वर-दर्शनके लिये सतत प्रतीक्षा ही भक्तिका पूर्णप्रकाश है ।

(१०) भगवान्‌से एकान्तमें नित्य विनय करें कि 'मेरा चाहे जहाँ जन्म हो पर आपका विस्मरण न हो । मुझमें अभिमानका लेश भी न रहे । मेरा मन इतना नरम रहे कि उसमें कभी कठोरताका नाम भी न आने पाये ।

(११) युग-युगान्तरकी सोयी हुई कसक एवं आकर्षण-शक्तिको विरह ही जगाता है । जीवात्मा जो सोया पड़ा है, उसे जगाकर प्रभुसे मिलानेवाली सखीका काम विरह ही करता है । जो कार्य अन्य साधनोंसे लाखों जन्ममें नहीं हो सकता, वह कार्य विरह अतिशीघ्र बना देता है, जिससे जीवको प्रभुका साक्षात्कार इसी जन्ममें हो जाता है । विरहाकुल भक्तकी वेदना प्रभुसे नहीं सही जाती, वे तत्काल उसके नेत्रोंके सम्मुख प्रकट हो जाते हैं ।

भक्ति-कौस्तुभ*

(लेखक—पं० श्रीरामशंकरजी भट्टाचार्य)

आदि-विद्वान् भगवान् कपिलदेवके द्वारा जो महान् भक्तियोग प्रवर्तित हुआ, उसीका इस लोकमें पञ्चशिख आदि आचार्योंद्वारा विस्तारसे निरूपण किया गया । इस भक्तियोगको प्राचीन कालमें सर्वार्थ-साधक घोषित किया गया था । उसीका दार्शनिक पद्धतिसे यहाँ संक्षेपमें वर्णन किया जाता है । ऋषियोंद्वारा अनुभूत पदार्थोंका उपदेश जिन प्रक्रियाओंसे होता है, उन्हींके समन्वयका नाम दर्शन हैं ।

भक्तिका प्रयोजन

चित्तके स्वभाव-वैचित्र्यसे, गुणों एवं वृत्तियोंके विरोधसे एवं व्यक्त वस्तुके संयोगसे 'मैं दुःखी हूँ' ऐसी बुद्धि सभी प्राणियोंमें उत्पन्न होती है । पैरमें चुभे हुए काँटेको एवं उससे रक्षाके उपायको जाननेवाला व्यक्ति ही जैसे कण्टकके चुभनेसे होनेवाली व्यथाको दूर करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार भेदजनित दुःखके नाशका उपाय भी उसके ज्ञानसे ही सम्भव है; अतः उस ज्ञानको अब सुनें । भक्तिसे तत्त्वज्ञान तथा आत्मामें (स्वरूपमें) स्थिति होती है, और स्वरूप-स्थितिसे ही दुःखका सर्वथा नाश सम्भव है; अतः उसका विचार किया जाता है । विभिन्न प्रकारकी रुचि रखनेवाले साधकोंकी भक्ति-सिद्धान्तके अनुगमनसे लक्ष्यमें स्थायी रति उत्पन्न होती है ।

'यस्य देवे पराभक्तिः' (जिसकी भगवान्‌में पराभक्ति है), 'श्रद्धावान् भजते' (श्रद्धालु पुरुष मेरा भजन करता है), 'ईश्वरप्रणिधानाद् वा' (या ईश्वरके प्रणिधान—भजन या शरणागतिसे भी समाधिकी सिद्धि होती है) इत्यादि शास्त्रवचन ही इसमें प्रमाण हैं ।

भक्तिके साधनका फल

लौकिक प्राणियोंकी दृष्ट एवं आनुश्रविक सुखमें आसक्ति होती है; वह सुख भक्तिद्वारा प्राप्त होता है यदि वह योग्यके प्रति की जाय । योग्यके प्रति भक्ति करनेपर व्यक्तचित्तसे जिस सुखमय पदकी अभिलाषा की जाती है, वह प्राप्त हो जाता है । द्रष्टा-दृश्यके विवेक तथा शाश्वत शान्तिरूप अपवर्गको भी भक्ति प्राप्त करा देती है, यदि वह योग्यके प्रति की जाय । यही भक्ति यदि किसी अतपस्वीद्वारा मोहवश अयोग्यके प्रति की जाती है तो मोक्ष या स्वर्गकी प्राप्तिकी

* लेखकके एक अप्रकाशित संस्कृत-पद्यमय ग्रन्थके कतिपय चुने हुए श्लोकोंका भावानुवाद ।

ओर साधककी प्रगति नहीं होती। स्वर्ग आदि व्यक्त ऐश्वर्यकी सिद्धिके लिये ऐश्वर्यवानोंको ही भक्तिके योग्य विषय कहा गया है। किंतु अपवर्ग सिद्ध करनेकी योग्यता समर्थ गुरुमें तथा सगुण परमेश्वरमें ही होती है। सजातीय कारणसे सजातीय कार्यकी उत्पत्ति होती है—इस नियमसे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इत्यादि स्मृति (गीता)-वाक्यके अनुसार योग्य विषयके प्रति ही भक्तियोगका विधान किया गया है।

भक्तिका लक्षण

चित्तको अभीष्ट स्थिति प्रदान करनेवाली महापुरुष (परमपुरुष)-विषयक जो भक्ति है, वह सर्वतीर्थोंकी शीर्ष-स्थानीय कही गयी है। युष्मत्प्रत्ययगोचर (जिन्हें 'तुम' कहकर पुकारते हैं) और अस्मत्प्रत्ययगोचर (जिन्हें 'मैं' कहकर पुकारते हैं)—ये दो ही पुरुष हैं, उनके प्रति यह भक्ति शास्त्र तथा न्यायकी युक्तियोंसे अनुष्ठेय है। ऐश्वर्य-युक्त आत्मबाह्य पुरुष युष्मत्प्रत्ययगोचर है। अव्यय प्रत्येक्-चेतन अस्मत्-प्रत्ययगम्य है। भक्तिके साधनमें चित्तकी स्थितिका ही ग्रहण होता है और वह केवल वृत्तिस्वरूपा नहीं है; क्योंकि यह माननेसे अव्याप्तिका दोष आता है।

भक्ति-साधनाका प्रकार

कर्मयोगियोंकी त्वं-पद-गोचर वस्तुके प्रति स्वाभाविक श्रद्धा होती है, जब कि स्थिर चितवाले ज्ञानियोंकी श्रद्धा अस्मत्प्रत्ययलक्षित पदार्थमें होती है। श्रेष्ठ कर्मयोगी बाह्य आलम्बनद्वारा योगको सिद्ध करते हैं। तथा अस्मत्प्रत्ययाश्रित ज्ञानीजन अन्तश्चेतनात्मक प्रत्ययकी ख्यातिसे उसी योगको सिद्ध करते हैं। 'त्वं' पदार्थके भजनमें वृत्तिकी अनन्यता आवश्यक है; और प्रत्यगात्माकी भक्ति सभी वृत्तियोंके निरोधसे साध्य है। ईश्वरमें, उनके अधीनस्थ भक्तोंमें तथा पूज्य व्यक्तियोंमें अनुलोमक्रमसे महत्त्व-बुद्धि ही 'त्वं' पदार्थकी पूजा है। प्रत्यगात्मा ज्ञानरूप है। वही बुद्धिका प्रतिसंवेदक (ज्ञापक) है। उसका आश्रय लेकर स्थित होना ही प्रत्यगात्माकी भक्ति है। वह मोक्षकी साधिका है, जैसा कि—

'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति', 'मत्संस्थामधिगच्छति'

—आदि वचनोंसे उपनिषदों तथा गीतादि ग्रन्थोंमें कहा गया है।

युष्मत्पदार्थविषयिणी भक्ति

'त्वं' पदार्थसे यहाँ ईश्वर तथा ऐश्वर्यवान् सिद्ध गुरुओं-का ग्रहण किया गया है। चित्तस्थितिक्रमसे संवेगद्वारा इसमें आस्था की जाती है। एकमात्र ब्रह्मकी शरण लेनारूप कार्य निश्चय ही श्रेयस्कर है। इसमें योगीजन अनुरागात्मिका श्रद्धा करते हैं। तत्पश्चात् प्रतीकके प्रति आत्मभावका साधन करके सान्द्रानन्दसंदोहमें मग्न हो जानेपर उनकी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। सारा विश्व मुझमें है, और मैं सबमें स्थित हूँ—इस प्रकारकी भावना सत्वकी शुद्धि चाहनेवालेको करनी चाहिये। यह भक्ति अपने हृदयमें ध्येयके गुण आदिके चिन्तनसे साध्य है। इसमें बाह्यालम्बनकी आवश्यकता है। यह भक्ति परार्थ होनेसे अपरा कहलाती है।

अस्मत्पदार्थविषयिणी भक्ति

सब दोषोंके समाप्त हो जानेपर उस साधककी, जिसका द्रष्टामें स्थिति ही एकमात्र लक्ष्य है, जिसका निर्बीज ध्यान सिद्ध हो गया है, जिसे पर-वैराग्यकी कामना है तथा सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोधसे जिसका चित्त संस्कारमात्रशेष रह गया है, स्वभावसे ही द्रष्टामें एकान्त तथा अचल स्थिति हो जाती है। निरोधभूमिके साधकोंद्वारा यही पराभक्ति कही जाती है। आत्मज्ञान इसके गर्भमें (छिपा) रहता है। इसमें अन्य किसी पदार्थका ज्ञान नहीं रहता तथा वह परमशान्तिकी भूमि है। सांख्यप्रोक्त तत्त्वोंका निदिध्यासन करनेवाले ज्ञानियोंकी उपायज्ञानसे द्रष्टाके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। जिससे प्रत्यगात्मामें स्थिति हो, वही परम धर्म है। आत्मा सभी पदार्थोंकी अपेक्षा परम प्रिय है। 'पुरुषान्न परं किंचित्'—'पुरुषसे परे कुछ नहीं है'—यह श्रुति ही इसमें प्रमाण है।

रामकृपाका महत्त्व

काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥

(सुन्दरकाण्ड)

ज्ञान-कर्म-युक्त भक्ति

(लेखक—आचार्य लौटूसिंह गौतम, एम्० ए०, एल, टी, पी-एच्. डी, काव्यतीर्थ, इतिहासशिरोमणि)

आजका संसार बड़ा ही क्षुब्ध और अशान्त है; जहाँ देखिये वहीं भय, त्रास और आतङ्क है। अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें अनैतिकता, नास्तिकवाद और राष्ट्रगत स्वार्थभावनासे हमारा संसार श्मशान हो रहा है; फ्रांसकी क्रान्तिके एक इतिहास-लेखक (Stephens) ने क्रान्तिके पहले फ्रांसकी जो दशा चित्रित की है, वैसी ही दशा आज विश्वकी है। उस समय नास्तिकवाद, परस्पर अविश्वास और घृणित स्वार्थ-बुद्धि व्यापक थी; आज भी देश-विदेशोंमें मानव इसी भयंकर अशान्तिका शिकार है। आज भी क्रान्ति आ रही है। और तो क्या, विश्वराष्ट्रसंघ स्थायी शान्तिके लिये परीशान है, पर उसे भी सफलताकी मात्रा बहुत कम अंशोंमें मिल पाती है। ऐसे समयमें मुझे षोडशकलावतार, लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण-की गीताका स्मरण हो आता है। श्रीगीता जीवन-दर्शनका अमूल्य प्रकाश है। यह सारे विश्वका व्यापक धर्मग्रन्थ है। यह नीतिशास्त्रका वह कोहनूर हीरा है, जिसका मूल्याङ्कन हो ही नहीं सकता। यह बौद्धिक जगत्की वह सूर्यकान्तमणि है, जिसके आलोकसे सारा विश्व देदीप्यमान हो रहा है। आज विश्व उसी प्रकार किंकर्तव्यविमूढ हो रहा है, जैसे रणाङ्गणमें अर्जुन अज्ञानजनित मोहके कारण शोकार्त और किंकर्तव्य-विमूढ था। जबतक संसारका अज्ञानजनित मोह दूर न होगा, तबतक स्थायी शान्ति नहीं मिल सकती। वह मोह कैसे दूर होगा, इसी विषयकी मीमांसा करनेके लिये कुछ विचार 'कल्याण'के पाठकोंके समक्ष रखनेका प्रयास किया जा रहा है। आशा है पाठकगण उन्हें समझनेका यत्न करेंगे।

मैंने ऊपर निवेदन किया है कि विश्वमें सम्पूर्ण मानवता-का जीवन-दर्शन जैसा गीताने उपस्थित किया है, वैसा किसी अन्य ग्रन्थने नहीं किया है। इसका कारण यह है कि गीताने मानवके कर्तव्य-शास्त्रका निश्चय आध्यात्मिक आधारपर किया है; अतः इसका विवेचन सभी कालों, सभी देशों तथा समस्त मानव-जातिपर लागू है। यह विवेचन चिरंतन सत्यपर अवलम्बित है। यों तो गीताके मुख्य विषयपर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत एवं द्वैत-सम्प्रदायके आचार्यों-की विशिष्ट टीकाएँ उपलब्ध हैं और उन सभी आचार्योंके दृष्टिकोण उन-उन मानवीय स्तरोंके अनुसार समीचीन है। इधर लोकमान्य तिलकका 'गीतारहस्य' भी आधुनिक जगत्का अमूल्य ग्रन्थ है। इसमें तिलकने गीताका लक्ष्य माना है—ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग। तिलकने ज्ञानयोग या संन्यासको कर्मयोगके अन्तर्गत माना है। यहाँ किसी टीकाकारकी आलोचनाके लिये स्थान और समय नहीं है; पर इतना तो निवेदन करना ही पड़ेगा कि कहीं-कहीं टीकाकार अपनी धुनमें या विचारकी बहकमें मूल गीतासे अलग हो गये हैं।

उदाहरणके लिये जहाँ श्रीगीताके ५ वें अध्यायके ५ वें श्लोकमें भगवान्का स्पष्ट आदेश है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

—अर्थात् जो परमधाम ज्ञानयोगियोंद्वारा प्राप्त किया जाता है, वही परमधाम निष्काम-कर्मयोगियोंको भी प्राप्त होता है; अतः जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्कामकर्मयोगको एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।

वहाँ लोकमान्य तिलकका यह कथन कि संन्यास कर्मयोगके अन्तर्गत है, बौद्धिक जगत्को मान्य नहीं हो सकता। अधिकारीके, साधकके मानवीय स्तरके अनुसार दो स्वतन्त्र मार्ग हैं—इनमेंसे किसी एकका अनुयायी होनेसे भगवत्प्राप्ति या मोक्ष या कैवल्य मिल जाता है। इसी प्रकार अन्य टीकाकारोंने भी यत्र-तत्र खींचातानी की है। इसी लिये मेरे मान्य मित्र स्वर्गीय स्वामी सहजानन्द सरस्वती कहा करते थे कि जो गीताका रहस्य समझना चाहता है, वह यदि श्रद्धासे गीता-माताकी शरण ले और सात्त्विक बुद्धिसे उसका गूढ़ रहस्य समझनेका प्रयत्न करे तो श्रीगीता-माता उसे अपने उपदेशामृतकी एक बूँद पिला ही देंगी और वह साधक मुक्त होकर आनन्दमग्न हो जायगा। वास्तवमें गीता बड़ा ही रहस्यपूर्ण ग्रन्थ है, जिसके विषयमें कहा गया है—'व्यासो वेत्ति न वेत्ति वा'। और सत्यतः जो सत्यका सूर्य है, उसे मानव भला, क्या समझे। वह तो अपनी ही बुद्धिके चश्मेसे उसे देखेगा; यद्यपि मनुष्य निर्बल और अपूर्ण है, तथापि श्रद्धा, भक्ति और भगवान्की कृपासे उसे गीताका यत्किंचित् ज्ञान हो ही जाता है। अतः टीकाकारोंके क्षेत्रसे बाहर निकलकर केवल मूल गीताके आलोकमें उसके प्रतिपाद्यकी मीमांसा की जायगी।

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' से लेकर 'ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम' पर्यन्त श्रीगीताके उपदेशोंका सहारा लेकर ही श्रीगीताका

मुख्य ध्येय निश्चित करना होगा। अस्तु, अठारहवें अध्यायके ७२वें श्लोकमें भगवान् अर्जुनसे प्रश्न करते हैं—'हे पार्थ! क्या तूने इस गीता-शास्त्रका एकाग्र चित्तसे श्रवण किया और हे धनञ्जय! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?' इसका उत्तर अर्जुन इस प्रकार देते हैं—'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। पाठकगण अन्ततोगत्वा अर्जुनके मुखसे ही सुन लें कि उनका मोह कैसे नष्ट हुआ—'श्रीकृष्णकी कृपासे।' अतः हमलोग मूलका ही आश्रय लेकर चलें।

अर्जुन रणाङ्गणमें आते हैं। अपने सगे-बन्धुओंको देखकर उन्हें अपना क्षात्रधर्म भूल जाता है। 'हम भाई, भतीजे, आचार्य, चाचा, पुत्र, पितामह आदिको कैसे मारें?'—ये विचार लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे विवेकपूर्ण जान पड़ते हैं, पर परमार्थकी दृष्टिसे हेय हैं। अर्जुन व्यक्तिगत स्वार्थसे ऊपर उठ चुके हैं, पर उनमें परिवारगत और जातिगत स्वार्थकी भावना बनी हुई है। जबतक वे इन स्वार्थोंसे भी ऊपर उठकर परमार्थकी दृष्टिसे अपने कर्तव्यका निश्चय नहीं करेंगे, तबतक उनका आचरण हेय ही कहा जायगा। अखिल विश्वके विशाल दृष्टिकोणसे अपने कर्तव्यका निश्चय करना नीतिशास्त्रकी आज्ञा है। आज नहीं, हजारों वर्षोंसे भौतिक उन्नतिमें लगे हुए वर्तमान जगत्के उन्नत कहलानेवाले देश अपने राष्ट्रगत स्वार्थसे ऊपर न उठ पाये। श्रीभगवान्ने जिस समय अर्जुनके संकुचित दृष्टिकोणको व्यापक बनाना चाहा, उस समय अर्जुनको अपने आत्म-स्वरूपका भान तो था, पर ज्ञान नहीं था; अतः अहंकारवश वह अपनेको कर्त्ता मान रहा था। 'इस सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्चको एक वही नटनागर अखिलेश्वर चलाता है, मनुष्य केवल निमित्त है, भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनका दृष्टिकोण इसी उदात्त सिद्धान्तके अनुकूल बदलना चाहा। इसीको परमार्थदृष्टि कहते हैं।

सारे अज्ञानका कारण संकुचित दृष्टिकोण है। जबतक भारत जातीयता, प्रान्तीयता अथवा व्यक्तिगत स्वार्थ या परिवारगत स्वार्थका शिकार था, तबतक हम पराधीन थे। इस बीचमें एक गीताध्यायी महात्मा हमारे राजनीतिक क्षेत्रमें आया। उसने हमारा—सारे भारतका दृष्टिकोण बदल दिया; हम क्षुद्र स्वार्थोंसे ऊपर उठकर राष्ट्रिय स्वार्थको अपना स्वार्थ मानने लगे। महात्माने कहा; यह भी ठीक नहीं है; हम तो विश्वके स्वार्थको भारतका स्वार्थ समझते हैं।' सारा देश उठ गया और फलतः विदेशी शासकोंको भारत छोड़ना पड़ा।

अस्तु, भगवान् श्रीकृष्णने आत्माकी विशालता और अमरत्वको समझाकर अर्जुनके प्रति ज्ञानयोगकी सविस्तर व्याख्या की; फिर निष्कामकर्मयोग भी समझाया। ध्यान-योगका वर्णन करते हुए उन्होंने छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें यह घोषणा की—

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठरूपमें मान्य है।

पतञ्जलिके योगमें 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस सूत्रके अनुसार आत्म-साक्षात्कार करनेके लिये ईश्वरकी उपासना वैकल्पिक है, पर गीतामें ईश्वरका एकान्त भक्त ही सर्वश्रेष्ठ योगी है। गीताका निष्कामकर्मयोगी अपना विहित कर्म पूरी इमानदारीसे, पूरी शक्तिसे, अनासक्त होकर, फलाशाके बिना, अहंकारशून्य होकर, अपनेको निमित्तमात्र मानता हुआ उच्च मानवीय दृष्टिकोणसे, ज्ञान और विवेकके प्रकाशमें भगवत्-कृपासे करता है और करता है लोकसंग्रहके लिये। अतः वह भक्तशिरोमणि है। गीताका ज्ञानयोगी इससे ऊपरके स्तरका होता है। वह अपने कर्तव्यको इस प्रकार करता है, मानो उसके लिये वह प्राकृतिक क्रिया हो गयी है। गीताके पाँचवें अध्यायके आठवें और नवें श्लोकोंमें उसका इस प्रकार दिग्दर्शन कराया गया है—'वह तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी या ज्ञानयोगी या संन्यासी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, जागता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, आँखोंको खोलता हुआ तथा मीचता हुआ भी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें वर्त रही हैं—इस प्रकार समझता हुआ यह माने कि मैं कुछ नहीं करता। इस प्रकरणको १० वें श्लोकमें समाप्तकर भगवान्ने ११ वें श्लोकमें कर्मयोगीका पुनः वर्णन किया है।

आगे चलकर सातवें अध्यायके १६ वें तथा १७ वें श्लोकोंका अध्ययन करनेपर विदित होगा कि भगवान्ने अपने भक्त चार प्रकारके बतलाये हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी; और ज्ञानीको 'एकभक्तिः' कहा है। 'ज्ञानी' भी भगवान्का एकान्त 'भक्त' होता है। यदि उसके ज्ञानमें भक्तिका समावेश न हो तो वह ज्ञान नीरस और व्यर्थ होता है। अतएव यह निर्विवाद है कि गीताका ज्ञानी

भी भक्त है; पर उस भक्तमें कर्मशीलता प्रधान है। १२ वें अध्यायके १३ वेंसे २० वें श्लोकतक भक्तके लक्षणोंका सविशेष वर्णन है। १३ वें, १४ वें श्लोकोंकी टीकामें स्वामी रामानुजाचार्य कहते हैं—'इस प्रकारके कर्मयोग द्वारा जो मुझको भजता है, वह मेरा भक्त है। (गीताप्रेसका रामानुजभाष्य, पृष्ठ ४०४) अर्थात् अपने स्वार्थसे ऊपर उठकर जो सदा सेवामें लगे रहते हैं, वे भगवान्के प्यारे हैं। ऐसे ही भक्तोंको भगवान् वह 'बुद्धियोग' देते हैं, जिससे वे भगवत्साक्षात्कार या मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं—देखिये दशम अध्यायका दसवाँ श्लोक। इसी प्रसङ्गमें सातवें अध्यायके १४, १५, १६, १७; आठवें अध्यायके १४, १५, २२; नवें अध्यायके १३, १४, १५, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४; दसवें अध्यायके ९, १०; ११ वें अध्यायका ५४ वाँ; बारहवें अध्यायके १३ से २० तक; चौदहवें अध्यायका २६ वाँ तथा अठारहवें अध्यायके ६५, ६६ वें श्लोक द्रष्टव्य हैं। इस मीमांसासे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीगीताका परमलक्ष्य है 'ज्ञान-कर्म-युक्त भक्ति'। भगवान् शंकराचार्यने तो १२ वें अध्यायके 'भक्त'को 'संन्यासी' मान लिया है। अर्थात् जो सच्चे संन्यासी हैं, वे लोकसंग्रहके लिये सदा परोपकारके कार्य करते रहते हैं। ज्ञानोत्तर कालमें उनका कर्म कर्म ही नहीं रह जाता। दूसरे शब्दोंमें श्रीगीताका कर्मयोगी और ज्ञानयोगी दोनों ही भगवान्की भक्तिमें लीन रहकर सदा 'यज्ञार्थ' कर्म किया करते हैं, चुपचाप नहीं बैठते। जो लोग गीताका परमलक्ष्य कर्मयोग मानते हैं, उनसे गीताके ११ वें अध्यायके ३३, ३४ श्लोकोंकी संगति नहीं बैठती; ऊपर दिखाया जा चुका है कि मानव निमित्तमात्र है, तात्त्विक दृष्टिसे सब कुछ भगवान् ही करते हैं। उपर्युक्त मीमांसासे स्पष्ट है कि श्रीगीताका ज्ञानयोगी अभेद-बुद्धिसे भगवान्का भक्त है और कर्मयोगी भेदबुद्धिसे; हैं दोनों 'भक्त'।

इसके अतिरिक्त श्रीगीतामें उन मौलिक चिरंतन सत्योंका स्पष्टीकरण है, जिनके प्रखर आलोकमें जीवन-दर्शनका रहस्य हृदयंगम हो जाता है। उदाहरणके लिये चाहे आप ज्ञानयोगी हों या कर्मयोगी, आपको कुछ मौलिक गुणोंको अपने अंदर लाना ही होगा। उन गुणोंमें सर्वप्रधान चरित्रबल है; सारे छठे अध्यायमें मन, शरीर, इन्द्रिय और बुद्धिको संयमित करनेका उपदेश है। इसी बातको दूसरे अध्यायके ५८वें श्लोकमें कहकर ६१वेंमें इस प्रकार दुहराया गया है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

सारी गीताका आधार है चरित्रबल। ५ वें अध्यायके २३ वें श्लोकमें कहा गया है कि जो काम-क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ है, वही योगी है और वही सुखी है। इस प्रकार स्थान-स्थानपर इन्द्रिय-जयपर विशेष बल दिया गया है। 'स्वालवम्बन' श्रीगीताका दूसरा मौलिक सत्य है (देखिये छठे अध्यायका ५ वाँ तथा ६ ठा श्लोक)। श्रीगीताका तीसरा मौलिक विषय है 'स्वधर्मपालन'। श्रीगीताके १८वें अध्यायके ४६वें श्लोकमें—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

—अपने कार्य-द्वारा भगवान्की पूजा करनेकी बात कही गयी है। श्रीगीताके उपदेशको ही 'कार्य ही भगवान्की पूजा है' (Work is worship) कहकर आजकल दुहराया जाता है। स्वधर्म-पालनका इतना सुन्दर उपदेश विश्वमें अन्यत्र कहीं नहीं उपलब्ध होता।

गीताका चौथा मौलिक सिद्धान्त है—'भावशुद्धि'। मनुष्य अपनी भावनाके अनुसार ही धर्माधर्मका भागी होता है—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।

पाचवाँ मौलिक सिद्धान्त है—'समत्वबुद्धि'

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।

छठा सिद्धान्त है—'श्रद्धा'। विना श्रद्धाके सारे कार्य असत् हैं। सातवाँ सिद्धान्त है—जो कुछ करो, फलाशा छोड़कर करो। गीता सकाम कार्योंकी निन्दा करती है। आठवाँ सिद्धान्त है—'आसक्ति न रखना'। इसीको महात्मा गांधीने 'अनासक्ति-योग' कहा है। नवाँ मौलिक तत्त्व है—'भगवदर्पण'। और भी अनेक मौलिक तत्त्व हैं, जिनका वर्णन इस छोटे-से लेखमें सम्भव नहीं है। स्थूल दृष्टिसे ये ही गीताके चिरंतन मौलिक सत्य हैं। किंतु सबसे महान् और सर्वप्रधान तत्त्व है—ईश्वर-की शरणागति। इसीको गीताके १८वें अध्यायके ६१वें, ६२वें श्लोकोंमें इस प्रकार समझाया गया है—

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मानुसार भ्रमाता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य

शरणको प्राप्त हो; उस परमेश्वरकी कृपासे ही तू शान्तिको और परमधामको प्राप्त होगा।'

ऐसा लगता है कि यह भगवान्‌का सबसे उपादेय उपदेश है: भगवत्कृपाके बिना हम अपने कार्य भी तो सम्पादन नहीं कर सकते। मामनुस्मर युध्य च—भगवान्‌को स्मरण रखो और युद्ध करो । (८ । ७) इसे मैं भगवान्‌के उपदेशका सार मानता हूँ । श्रीगीताका अन्तिम श्लोक इस ग्रन्थ-रत्नका सुन्दर उपसंहार है । 'जहाँ योगेश्वर कृष्ण भगवान् हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।' सारांश यह कि श्रीगीताका परम लक्ष्य है—ज्ञान-कर्मयुक्त भक्ति । भगवान् शंकराचार्यने अपने गीताभाष्यमें प्रश्न किया है—'गीताशास्त्रमें निश्चय किया हुआ परम कल्याण (मोक्ष) का साधन ज्ञान है या कर्म अथवा दोनों ?' इसका उत्तर वे इस प्रकार देते हैं—'आत्मज्ञान ही परम कल्याण (मोक्ष) का हेतु है।' इसपर बड़ी मीमांसा की गयी है । मेरा तो स्पष्ट मत यह है कि ज्ञान-कर्मयुक्त भक्तिसे ही आत्मज्ञान हो सकता है और यही भक्ति मनुष्यके मोक्षका साधन बन सकती है। गीताप्रेससे प्रकाशित गीता-तत्त्व-विवेचनी (पृष्ठ १८) में कहा गया है—'उपक्रम-उपसंहारको देखते हुए गीताका पर्यवसान शरणागतिमें ही प्रतीत होता है।' मेरा सुझाव है कि गीताका पर्यवसान शरणागतिमें ही प्रतीत होता है, यह शिष्टता एवं विनयकी भाषा है । पाश्चात्त्य विद्वानोंने भी श्रीगीताका अन्तिम लक्ष्य भगवद्भक्ति ही माना है । जी० ए० ग्रियर्सनने Imperial Gazetteer, द्वितीय भागके पृष्ठ ४१४ में लिखा है—"The doctrine of Bhakti or faith was originally propounded in the famous Sanskrit verse called the Bhagavadgita" अर्थात् भक्तिका प्रतिपादन मूलतः श्रीमद्भगवद्गीतामें किया गया है। और भी अनेक विद्वानोंने यही माना है। अतः आज समस्त विश्वमें श्रीगीताकी ज्ञान-कर्मयुक्त भक्तिद्वारा आत्माके अनुकूल विशाल दृष्टिकोणसे न्याय और स्नेहका साम्राज्य स्थापित करना ही मानवका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये। इसीसे स्थायी शान्ति होगी। क्या भारत इस ओर अग्रसर होगा ? भगवान्‌से प्रार्थना है कि वह भारतको इस पवित्र कार्यके सम्पादनके लिये यथेष्ट शक्ति और बुद्धि दें । ॐ शम्।

श्रीरामचरितमानसमें भक्ति

(लेखक—श्रीजयनारायणलालजी)

श्रीरामचरितमानस भक्तिप्राण मन्त्रमय दिव्य बृहत् सद्ग्रन्थ है। इसका सर्वव्यापी लोकोत्तर प्रचार ही इसकी अनुपम उपयोगिता तथा सर्वमान्यताका परिचायक है। इसके रचयिता भक्तप्रवर कविकुलचूडामणि पूज्यपाद श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने इस ग्रन्थमें भक्ति-रस-रञ्जित पीयूषप्रवाहपरिप्लावित भावुक भक्तजनोंकी शुद्ध हृदय-भूमिकापर प्रेमभास्करके उदयार्थ रसमय रश्मियोंको बिखेर दिया है।

प्रेम तथा पराभक्तिके प्रसङ्गोंसे ग्रन्थ ओत-प्रोत है। इसके सभी पात्र राम-पादारविन्द-मकरन्द-मधुप, महानुभाव, सगुणोपासनाके प्रेमी, प्रेमादर्श तथा भक्ति-पथ-प्रदर्शक हैं। दशरथका सत्य-प्रेम, भरतकी भावुकता, जनकका योगनिहित गूढ़ स्नेह, केवटका प्रेम, निषादकी निष्ठा, गीधका त्याग, शबरीकी सरलता, सुतीक्ष्णकी सुजनता, सुग्रीवकी सुहृदता, विभीषणकी शरणागति, हनुमान्‌का सेवक-भाव इत्यादि भक्ति-रसके जाज्वल्यमान उज्ज्वल उदाहरण हैं।

इष्टदेव भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके श्रीमुखारविन्दोपदिष्ट नवधाभक्ति, भक्तियोग, संत-लक्षण इत्यादि एवं महर्षि वाल्मीकिद्वारा निर्देशित चौदह भक्तिस्थान, भेद-भक्ति-विवेचन तथा इसके आगे काकोक्त भक्ति-चिन्तामणि-रहस्य—इन भक्तिपूर्ण प्रसङ्ग-रूप अमूल्य रत्न ग्रन्थमें पिरो दिये गये हैं।

आदि-मध्य-अवसानमें रामभक्तिकी ही प्रधानता है। बालकाण्डके नाम-वन्दना-प्रकरणमें 'बरषा रितु रघुपति भगति०'; 'भगति सुतिय कल करन बिभूषन'से उपक्रम करके अयोध्याकाण्डमें भक्तिके साक्षात् अवतार श्रीभरतलालजीकी महान् भावपूर्ण प्रेमप्रदर्शिनीका उद्घाटन मध्यमें रखकर श्रीकाकजीके भक्तिपूर्ण दिव्य राम-तत्त्व-रहस्यमय सारगर्भित प्रवचनोंसे ग्रन्थका उपसंहार किया गया है—

एहि महँ आदि मध्य अवसाना।
प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

१—श्रीभक्ति-चिन्तामणि

श्रीकाकभुशुण्डिजी लोमशऋषिद्वारा षडक्षर राममन्त्रमें दीक्षित, बालरूप श्रीरामके ध्यानमें प्रीति रखनेवाले, माधुर्य-

लीलाका रसास्वादन करनेवाले, श्रीदाशरथि रामके सेवक-भावापन्न परम अनन्य भक्त थे।

रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें गोस्वामीजीने भक्तिके स्वरूपका सुन्दर चित्र खींचकर उसमें अपूर्व, अनुभूत, अनुकरणीय उपदेशोंको ग्रथित कर दिया है, जिसके अनुशीलन तथा अनुसरणसे मानव अपने चरम ध्येयको प्राप्त हो सकता है।

(१) भक्ति-पक्षका आग्रह रखनेसे लोमशऋषिका शाप आशीर्वादरूपमें परिणत हो गया और उन्होंने काकजीको विविध वरदानोंसे विभूषित किया। सत्य है, भगवद्भक्ति बिना प्रार्थना-याचनाके ही 'सकल अभिमत दातार' और 'सकल अमङ्गल मूलका नाशक' है तथा अखिल अकल्याणको कल्याण-में रूपान्तरित करनेकी सामर्थ्य रखती है।

(२) रामभक्ति चिन्तामणिके समान है। इसका प्रकाश दिन-रात एकरस रहता है। मणि केवल रात्रिमेंही प्रकाश देती है, दिनमें उसका प्रकाश सूर्यमें लय हो जाता है और प्रलयमें नष्ट हो जाता है। किंतु भक्तिरूपी मणिकी बात दूसरी है।

(३) भक्ति-मणिके प्रभावसे कर्तृत्वाभिमान निःशेष हो जाता है। स्वप्नमें भी उसकी स्फूर्ति पुनः नहीं होती। भक्त सर्वरूपेण भगवान्पर ही निर्भर रहता है, अपनी स्थिति-को भगवदर्पित कर देता है। उसका निश्चित विश्वास होता है कि परमेश्वर ही सबके प्रेरक हैं—

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गुसाईं॥

(४) भक्तिके प्रभावसे मलिन वासनाएँ या संकल्प उत्पन्न ही नहीं होने पाते।

(५) भक्ति भगवान्से भी श्रेष्ठ है। भगवान् स्वयं भक्तकी भक्ति करते हैं।

(६) भगवान्को ही इन्द्रियोंका विषय बनाना भक्ति है। समस्त इन्द्रियोंको प्राकृत विषयोंसे हटाकर भगवान्में ही लगाना तथा यह निश्चय करना कि श्रवणेन्द्रियसे केवल भगवान्की ही कथा सुनेंगे, रसनासे भगवद्यश ही गायेंगे, नेत्रोंसे भगवद्विग्रहका ही दर्शन करेंगे, घ्राणेन्द्रियसे भगव-दर्पित गन्धोंको ही ग्रहण करेंगे, त्वचासे भगवान्का ही स्पर्श करेंगे, हाथोंसे भगवान्के अर्चाविग्रहकी पूजा ही करेंगे, पैरोंसे रामतीर्थोंमें ही जायँगे इत्यादि—[illegible] नाम भक्ति है।

(७) दूसरे शब्दोंमें कहें तो संसारसे विमुख होना और राम-सम्मुख होना ही भक्ति है। विना प्रीतिके भक्ति अन्तः-करणमें दृढ़ नहीं होती। शृङ्गारादि पाँचों रसोंमेंसे किसी रसात्मक भावके साथ भजन होना चाहिये।

(८) चतुर-शिरोमणि भक्त फलकी महत्तापर ध्यान न देकर भक्तिको ही साधन और फल-सिद्धि जानता है—

तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ।

(९) भक्ति वेद-पुराणोंकी राम-कथारूपी खानोंमें गुप्त है, संतोंकी कृपासे प्राप्त होती है। अर्थात् भक्ति क्रिया-साध्य नहीं, वरं कृपासाध्य है।

२—भक्तिपरक घोषणाएँ

(१) सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
(२) अस बिचारि जो कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥
(३) गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।
(४) कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिसवासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥
(५) सब कर फल खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥
(६) रामहि सुमरिअ गाइअ रामहि। संतत कहिअ राम गुन ग्रामहि॥
(७) बारि मथें घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥
(८) भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥
(९) जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो स्वतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

३—श्रीभरतलालजीके प्रति उपदेश

संतोंके लक्षणों अङ्गुल्यानिर्देश करते हुए मुग्धता, प्रेम और पराभक्तिके विषयमें श्रीमुखके वचन हैं—

(१) जबतक जीव-बुद्धि रहती है, तबतक मनुष्य नवधा भक्तिका अधिकारी रहता है। मुग्धभक्तोंमें देहाभिमान अधिक और ज्ञान कम रहता है। ऐसे भक्त भगवान्को प्राणप्रिय होते हैं। ये शरीरसे सेवा करते हैं। यह भक्ति ममताकी नाशक है। किंतु जब देहाभिमान और ज्ञान बराबर होते हैं, तब जीवबुद्धि आती है और मनुष्य प्रेमाभक्तिका अधिकारी हो जाता है। उसको प्रेमास्पदसे क्षणभरका वियोग असह्य हो जाता है। प्रेमी सदा आनन्दविभोर रहता है। सूक्ष्मशरीरा-भिमानी होनेपर प्रेमा-भक्ति आती है, इससे बुद्धिद्वारा मदका नाश होता है। पुनश्च कारणशरीराभिमान-शोधनके लिये पराभक्ति करनी चाहिये, इससे मानका नाश होता है। इसमें

देहाभिमान नहीं रहता, केवल आत्म-बुद्धि रहती है और भगवत्-रूपमें अविरल—तैलधारावत् अविच्छिन्न अनुराग स्थिर हो जाता है। ऐसे पराभक्त भगवान्को प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं।

४—पुरजनके प्रति उपदेश

पुरजनोंको उपदेश देते हुए भगवान्ने स्वयं कहा है—

भगति सुतंत्र सकल गुनखानी।
बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

फलितार्थ यह है कि ज्ञान और कर्म भक्तिके परतन्त्र हैं और भक्ति-रसहीन होनेपर तो वे व्यर्थ ही हैं; यथा—

सो सब करम धरम जरि जाऊ।
जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥
जोग कुजोग ग्यान अग्यानू।
जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥

किंतु भक्ति कदापि ज्ञान या कर्मके अधीन नहीं है। रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

अतः भक्तिके भिखारीको सत्सङ्ग करना चाहिये। बिना सत्सङ्गके भक्ति न तो मिल सकती है और न जीवित ही रह सकती है।

भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलहिं जो संत होइँ अनुकूला॥

पुनश्च—

संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

भगवान् भूतभावन भक्तिके भंडार हैं, अतः उनकी आराधना भक्ति-दायिनी है।

५—भेद-भक्ति

भक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—एक अभेदभक्ति, दूसरी भेदभक्ति। भेद-भक्तिसे तात्पर्य सगुणोपासना—सेवक-सेव्य-भावका है। यह शब्द मानसमें तीन स्थानोंमें आया है—

(१) अरण्यकाण्डमें शरभङ्गजीके विषयमें—

ताते मुनि हरि लीन न भयऊ।
प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ॥

(२) लंकाकाण्डमें दशरथजीके विषयमें—

ताते उमा मोच्छ नहिं पायो।
दसरथ भेद भगति मन लायो॥

(३) उत्तरकाण्डमें श्रीकाकजीके प्रसङ्गमें—

ताते नास न होइ दास कर।
भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर॥

भेद-भक्तिवाले मुक्तिका निरादर करके भगवान्के त्रिपाद-विभूति नित्य वैकुण्ठधाममें नित्य कैंकर्य-सौभाग्यके इच्छुक होते हैं।

शरभङ्गजी परम योगी थे। प्रथमतः ब्रह्मलोक जाकर ब्रह्ममें लीन होना चाहते थे ब्रह्माजीके साथ वे; किंतु भगवान्के शुभागमनका संवाद पाकर ठहर गये कि यहीं लीन होंगे। किंतु दर्शनोत्तर रूपमाधुरीने उनके विचारोंको परिवर्तित कर दिया और उन्होंने सेवक-भाव माँग लिया। दशरथजीने भी पर-वैकुण्ठ साकेतधाममें कैंकर्य स्वीकार किया और काकजी बाललीला-माधुरीमें लीन रहे।

६—नवधा भक्ति

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अरण्यकाण्डमें दो स्थलोंपर नवधा भक्तिका उपदेश किया है—एक श्रीलक्ष्मणजीके प्रति 'श्रवणादिक', जो प्रवृत्तिपरक गृहस्थाश्रमियोंके लिये है; और दूसरा श्रीशबरीजीके प्रति 'सत्सङ्गादिक', जो निवृत्तिपरक विरक्तोंके लिये है। सत्सङ्ग इत्यादि दोनों प्रकारकी नवधाभक्ति भगवदुक्त कल्याणकारी है। साधकके लिये इसका अनुसरण श्रेयस्कर है।

७—अन्तिम लालसा

कामिहि नारि पिआरि जिमि
लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर
प्रिय लागहु मोहि राम॥

बोलो भक्त और भगवंतकी जय!

गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित श्रीरामचरितमानसकी विशेषता

'रामचरितमानस' प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजीका सर्वजनकल्याणकारी महान् ग्रन्थ है। इसके अनेकों संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। परंतु गोस्वामीजीके हाथका लिखा ग्रन्थ प्राप्त न होनेके कारण किसी भी संस्करणके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि यही संस्करण सर्वांशमें गोस्वामीजीका पाठ है, यद्यपि प्रायः सभी प्रकाशकोंने अपनी-अपनी रुचि तथा शक्ति-सुविधाके अनुसार शुद्ध पाठ रखनेका प्रयत्न किया है। इस दिशामें गीताप्रेसकी ओरसे भी यत्किंचित् प्रयास किया गया और हिंदीके प्रख्यात विद्वान् पं० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी और पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके द्वारा सम्पादित संस्करण पहली बार वि० सं० १९९७ में प्रकाशित किया गया। इस संस्करणमें इक्कीस प्रसिद्ध संस्करणोंके पाठभेद भी दिये गये। इसीका तीसरा संस्करण अभी प्रकाशित हुआ है, जिसका मूल्य ३) है। इसमें मूल पाठ एवं पाठभेदके साथ-साथ मानस-व्याकरण भी दिया गया है। इसीके पाठके अनुसार गीताप्रेससे अबतक मानसके कई मूल और सानुवाद संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यही सर्वांशमें गोस्वामीजीके हाथकी लिखी प्रतिका पाठ है, और यह भी निश्चित है कि प्रमादवश इसके सम्पादन और मुद्रणमें भी कई भूलें रही होंगी, जिनके संशोधनके लिये हम सदा प्रस्तुत हैं। तथापि इसमें यथासाध्य प्राचीन पाठकी रक्षा करने, क्षेपक न देने और मनमाने रूपमें शैली तथा शब्दोंके रूपोंको न बदलनेकी ओर विशेष ध्यान रखा गया है। इसमें बालकाण्डके पाठका श्रावणकुञ्ज, अयोध्याकी प्राचीन प्रतिके आधारपर, अयोध्याकाण्डके पाठका राजापुरकी प्राचीन प्रतिके आधारपर, सुन्दरकाण्डके पाठका दुलहीकी प्राचीन प्रतिके आधारपर सम्पादन किया गया है और शेष चार काण्डोंके पाठका आधार प्रमुखतया श्रीभगवतदासजीकी सं० १७२१ की प्रतिको माना गया है। इसमें निम्नाङ्कित आठ विशेषताएँ हैं—जिनका आधार प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियाँ, नागरी-प्रचारिणी-सभाका मान्य पाठ, मानसपीयूषका पाठ, मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठीका पाठ आदि हैं। इसीसे मिलते-जुलते पाठ प्राचीन ग्रन्थोंके वैज्ञानिक सम्पादनके कार्यमें प्रचुर परिश्रम करनेवाले भाषाविद् डा० श्रीमाताप्रसादजी गुप्तके संस्करणमें तथा नागरी-प्रचारिणीके नवीन संस्करण आदिमें भी है। गीताप्रेसके इस पाठ-निर्णयमें परमहंस श्रीअवधविहारीदासजी (नागा बाबा), प्रसिद्ध रामायणी श्रीजयरामदासजी दीन, मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी, श्रीरामदासजी गौड़ आदि मानसके मर्मज्ञ विद्वानोंकी पूर्ण सम्मति प्राप्त थी।

आठ विशेषताएँ

(१) प्राचीन प्रतियोंके अनुसार जहाँ-जहाँ आवश्यक था, वहाँ 'राम'के स्थानपर 'रामु' शब्दका व्यवहार किया गया है। प्रायः सभी प्राचीन प्रतियोंको 'रामु' शब्द स्वीकृत है। गोस्वामीजीके द्वारा अकारान्त शब्दोंमें 'उ' की मात्रा जोड़े जानेका निर्णयात्मक प्रमाण भी मिल चुका है। गोस्वामीजीने टोडरमलकी सम्पत्तिके बँटवारेके सम्बन्धमें जो 'पंचायतनामा' लिखा है, उसके ऊपरके दो श्लोक और एक दोहा गोस्वामी तुलसीदासजीके ही हाथके लिखे हैं। इनमें श्रीगोस्वामीजीने 'रामु' और 'धरमु' शब्दोंका प्रयोग किया है।

(२) इसी प्रकार अन्यान्य शब्दोंमें भी व्याकरणसम्मत 'उकार' रखा गया है—जैसे दसरथु, जनकु, भरतु, धरमु, करमु, 'तरु', 'बरु', 'चापु', 'जहाजु' आदि।

(३) शब्दोंपर जहाँ-तहाँ व्याकरणसम्मत 'अनुस्वार' का प्रयोग रखा गया है। मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजीने भी ऐसा ही किया था। इस सम्बन्धमें मानसके प्रसिद्ध टीकाकार हिंदीके सर्वमान्य विद्वान् पण्डित श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी लिखते हैं—

"मानसमें जहाँ-जहाँ 'राम' का 'रामु' आया है, सब व्याकरणसम्मत है और उसका स्वतन्त्र अर्थ है। इसी तरह 'अनुस्वारोंका प्रयोग' भी व्याकरणसम्मत है।"

(४) कथाकी संगतिके लिये क्षेपक नहीं बढ़ाये गये हैं—जैसे

'चहुँ दिसि [illegible] अहीसा। बारं बार नायउ पद सीसा॥' आदि आदि।

(५) अवधी भाषाके अनुसार प्राचीन पाठ ही रखा गया है, उसे बदला नहीं गया—जैसे

'मरम बचन सीता जब बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥'

इसपर हिंदीके प्रसिद्ध भाषाविद् तथा मध्यकालीन कवियोंकी भाषाके मर्मज्ञ श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी लिखते हैं—

"……प्रसङ्गवश मलिक मुहम्मद जायसीकी 'पद्मावत'की एक पंक्ति स्मरण हो आयी। इसके बसंत खण्डवाले अंशमें एक अर्धाली इस प्रकार आती है—

जो देखैं जनु बिषहर डँसा। देखि चरित पदुमावति हँसा॥"

(६) अवधीके 'तद्भव' शब्दोंको संस्कृतके 'तत्सम' न बनाकर 'तद्भव' ही रखा गया है—जैसे बेष, पेसु, सीय, सीया, सरऊ, जागबलिक, पिय, सिव, स्याम आदि।

(७) अवधीके शब्दोंमें पञ्चम वर्णका प्रयोग न करके अनुस्वारका प्रयोग किया गया है—जैसे सुंदर, मंदिर, कंज, पुंज, संख आदि।

इस सम्बन्धमें प्रसिद्ध सर्वमान्य विद्वान् हमारे उत्तर प्रदेशके मुख्य मन्त्री लिखते हैं—"संस्कृतके जानकार होते हुए भी तुलसीदासजीने संस्कृतके तत्सम शब्दोंका बहुत कम व्यवहार किया है। आजकल उनके द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्दोंको शुद्ध संस्कृतका जामा पहनानेकी जो प्रवृत्ति कहीं-कहीं दीख पड़ती है, वह ठीक नहीं है। वाङ्मयके विद्यार्थीको कविने जो लिखा है, उसे पढ़ना चाहिये। कविको क्या लिखना चाहिये था, यह उपदेश देना उचित नहीं है। इसी तरह मेरा विश्वास है कि तुलसीदासजीने पञ्चम वर्णका स्यात् कहीं भी प्रयोग नहीं किया। इन्होंने अनुस्वारसे ही प्रायः काम लिया है।"

(८) दोहे-सोरठे आदिकी संख्या प्राचीन प्रतियोंके अनुसार ही दी गयी है।

गीताप्रेसके 'मानस-पाठ'के सम्बन्धमें प्राप्त बहुसंख्यक सम्मतियोंमें दो-चारके संक्षिप्त अंश ये हैं—

संत विनोबा—

श्रीरामचरितमानसके पाठके विषयमें दिये गये आक्षेपोंका जो उत्तर आपने दिया है, वह मैंने पढ़ लिया। मुझे तो यह जँचा है।

उत्तर प्रदेशके मुख्य मन्त्री माननीय श्रीसम्पूर्णानन्दजी—

"मेरा जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान है, उसके आधारपर मैं इतना कह सकता हूँ कि आपके संस्करणकी गणना अच्छे संस्करणोंमें होनी चाहिये। उसका पाठ वैसा ही है, जैसा कि प्रायः प्राचीन लिपियोंमें मिलता है।

प्रयाग विश्वविद्यालयके हिंदी विभागके अध्यक्ष, भाषाविज्ञानके सुप्रसिद्ध पण्डित डा० धीरेन्द्र वर्माजी—

"……मैंने गीताप्रेसके मानसके संस्करणको मँगवाकर उसके पाठोंको ध्यानपूर्वक देखा।……इस संस्करणके पाठोंमें प्रायः प्राचीन रूपोंको ही मान्य समझा गया है।……"

बिहार सरकारके समाज-शिक्षोपनिर्देशक श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव'—

"……अबतकके प्राप्त पाठोंमें गीताप्रेसका पाठ नितान्त शुद्ध, व्याकरणसे परिपुष्ट एवं सर्वथा प्रामाणिक माना जाना चाहिये।"

प्रसिद्ध भाषाविज्ञानके पण्डित, पश्चिमबंग विधानपरिषद्के सभापति श्रीसुनीतिकुमार चटर्जी—

हमारे पूर्वजोंमें इस विषयका हमारे उन बहुसंख्यक आधुनिक विद्वानोंकी अपेक्षा कहीं अधिक विवेक था, जो वस्तुस्थितिको हृदयंगम किये बिना ही केवल शुद्ध संस्कृत रूपोंकी दुहाई देते हैं। अतः मैं उन सिद्धान्तोंका सोलहो आने समर्थन करता हूँ, जिनके अनुसार आपलोगोंने गीताप्रेस, गोरखपुरके लिये रामचरितमानसका पाठ तैयार किया है। × × ×

मैं इस भाषा (रामचरितमानसकी भाषा) के सम्बन्धमें लंबा विवेचन कर चुका हूँ और उसमें आप देखेंगे कि अपने रामचरितमानसके संस्करणकी बर्तनी तथा व्याकरणके सम्बन्धमें आपने जिन सिद्धान्तोंका अनुसरण किया है, वे ऐतिहासिक दृष्टिसे सर्वथा समीचीन हैं।